सन् 47 से उबरती दिल्ली की 'रिफ़ूजिनें'

अंजलि भारद्वाज

{1947 के अगस्त में} पंजाब के खेत लहू के रंग में रंग गए थे। अगस्त 1947 से पहले इक्का-दुक्का शरणार्थी ही आते दिखाई देते थे मगर अब रेले के रेले चले आ रहे थे...। उन रेलगाड़ियों, कारवाँओं और ट्रकों के बेड़े में एक ऐसा नया ज़हर भरा हुआ था जिसने पूरे महाद्वीप को अपने आग़ोश में ले लिया। ये ज़हर आज भी ज़िंदगी को नेस्तनाबूद करने की कुव्वत रखता है।[1]

सन् सैंतालीस में देश के बँटवारे ने एक इंसानी तबाही और त्रासदी को जन्म दिया। यह विच्छेद का क्षण था। यह लम्हा एक शासनकाल (औपनिवेशिक ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य) के ख़ात्मे और दो नई क़ौमों — भारत और पाकिस्तान — की पैदाइश का गवाह था। इसके बावजूद यह लम्हा इतने नागाह और इस अंदाज़ में सामने आया कि उसने फ़ौरी मुस्तक़बिल के तमाम अंदाज़ों को झुठला कर रख दिया।

पार्टीशन, विभाजन, बँटवारा या तक़्सीम — इन अल्फ़ाज़ के बहुत गहरे मानी है। लोग रातोंरात बँट गए, दोस्त दुश्मन हो गए, अपना ही घर अजनबी दिखने लगा। अगर अमिताभ घोष के बार-बार उद्धृत किए जाने वाले अल्फाज़ में कहें तो करोड़ों लोगों के पास "घर नहीं बल्कि सिर्फ़ उनकी यादें बची थीं।"[2]

पलक झपकते ही पुरानी पहचानें बेमानी हो गईं, उन्हें नए सिरे से समझने-अपनाने और एक बार फिर परिभाषित करने का सिलसिला शुरू हो गया। 1947-48 में एक बार ऐसा भी लगा कि बहुत सारे लोग अपनी पहचान के तमाम दूसरे पहलुओं — संस्कृति, भूगोल, भाषा, वर्ग आदि — के मुक़ाबले एक ख़ास पहलू, यानी मज़हब का जमकर फ़ायदा उठा रहे हैं।

बँटवारे ने ऐसे हालात में असंख्य अनिश्चितताओं को जन्म दे दिया जहाँ ख़ून-ख़राबा और हिंसा ही एकमात्र यक़ीनी चीज़ दिखाई देती थी। जो लोग अब तक हिंसा को गहरे तौर पर नापसंद करते थे, उससे हर सूरत में दूर रहते थे, अब उन्हें ऐन अपने भीतर ही हिंसा सिर उठाती दिखाई देने लगी। क़ानून-व्यवस्था के ध्वंस के हालात में चीज़ें बहुत तेजी से बदल रही थीं। 'हमलावर' पलक झपकते ही 'पीड़ित' और 'पीड़ित' पलक झपकते ही 'हमलावर' बन रहे थे। इससे भी अहम बात ये थी कि अकसरहाँ हमलावर भी खुद को पीड़ित के रूप में देखते थे और अपने आपको ये झूठी दिलासा देने की कोशिश कर रहे थे कि वह जो कुछ कर रहे हैं, आत्मरक्षा में कर रहे हैं।

भारत के दस्तावेज़ी यानी दर्जशुदा इतिहास में देश के बँटवारे की तारीख़ अगस्त 1947 में मानी जाती है। मगर 'राजनीतिक' मोर्चे पर इससे पहले ही कई दूरगामी घटनाओं की शुरुआत हो चुकी थी। कॉङ्ग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच फ़ासला बढ़ता जा रहा था। जिन्ना, गांधी और नेहरू की बहस तीखी होती जा रही थी। कई दूसरी घटनाएँ इस सिलसिले के साथ और इसके बाद शुरू हो गईं : हिंसा, सामूहिक पलायन, शरणार्थीपन, पुनर्वास। इसके बावजूद, जिसे 'इतिहास' समझा जाता है उसमें बाद वाली घटनाओं को 'कमतर' हैसियत मिलती है —

क्योंकि हममें से ज़्यादातर लोगों की नज़र में इतिहास शायद उसी लम्हे पर आकर ठहर गया था जब हम आज़ाद हुए थे।

इस मुक़ाम पर यह पर्चा एक नई दिशा में बढ़ने की कोशिश का हिस्सा है। इस पर्चे में ये दलील दी गई है कि 1947 में भारत का विभाजन और स्वतंत्रता, ये दोनों घटनाएँ अलग-अलग बातें नहीं थीं बल्कि ये दोनों एक-दूसरे को तय कर रही थीं और दोनों एक-दूसरे का हिस्सा थीं। हालाँकि 'सत्ताधारी' या असरदार सियासतदान आज़ादी के जश्न में डूबे हुए थे मगर 'शरणार्थी' खुद को इस जश्न का हिस्सा नहीं बना पा रहे थे। उनके लिए यह ज़िंदगी और मौत का सवाल था। उनके लिए आज़ादी ज़िंदा रहने की एक नई जद्दोजहद लेकर आई थी। जैसा कि ज्ञान पांडे ने कहा है, "बँटवारे ने ऐसी बहुत सारी धाराओं का रुख़ बदल दिया जो सामान्य रूप से अपनी निश्चित दिशा में बढ़ सकती थीं। बहुत सारे आम लोगों के लिए आज़ादी का मतलब विभाजन के रक्तपात में ही निहित था।"[3]

'आम लोग' के बारे में बात करते हुए यहाँ मैं औरतों के अनुभवों पर ध्यान केंद्रित करना चाहती हूँ। हाल-हाल तक विभाजन के इतिहास को बुनियादी तौर पर उनकी कहानी मर्दों की कहानी के रूप में ही पढ़ी जाती रही है। उसमें मर्दों के तजुर्बों पर ही ज़्यादा ज़ोर रहा है। औरतों को दूसरे दर्जे के ऐसे खिलाड़ियों की हैसियत से देखा जाता था जिनके तजुर्बों का अपना कोई अलग वजूद नहीं था और जो सिर्फ़ मर्दों के आदेशों का पालन कर रही थीं, अपने समुदाय की 'अस्मिता' की रक्षा के लिए उनके सामने समर्पण कर रही थीं। इस पर्चे का मक़सद महिलाओं को इस पूरे वृत्तांत में जाँच के केंद्रबिंदु, विषय और वाहक की हैसियत में देखने का ही है जिससे महिलाओं के अनुभवों को भी उनके विशिष्ट ऐतिहासिक संदर्भ और स्थान पर समझा जा सके। इस ज़रिए यहाँ विभाजन के दौर को एक बृहत्तर 'कैनवस' पर 'चित्रित' करने की कोशिश की गई है। पर्चे का मक़सद इस भ्रम को तोड़ना है कि महिलाओं का इतिहास भी वही है जो पुरुषों का इतिहास है, कि इतिहास में आने वाले अहम पड़ाव महिलाओं पर भी वैसा ही असर डालते हैं जैसा पुरुषों पर डालते हैं। कहने का मतलब यह नहीं है कि औरतों का इतिहास किसी भी सूरत में, कभी भी पुरुषों के इतिहास जैसा नहीं हो सकता। मेरी गुज़ारिश तो बस इतनी सी ही है कि उसे पुरुषों के इतिहास में विलीन नहीं कर दिया जाना चाहिए।[4]

इसी सोच के मद्देनज़र मैंने 1947 के बँटवारे के बाद दिल्ली की 'शरणार्थी' महिलाओं के अनुभवों को अपने अध्ययन का विषय बनाने का फ़ैसला किया है। मैंने अपने अध्ययन में व्यापक हिंसा, अपहरण, बेदख़ली, विस्थापन और सामूहिक पलायन के बीच पुनर्वास, स्थायित्व और पुनर्निर्माण की कोशिशों पर ध्यान केंद्रित किया है।

मैंने 1947 के बाद पंजाब विभाजन की नज़र से दिल्ली की महिलाओं को देखने की कोशिश की है। बंगाल के विभाजन से उपजे अनुभवों से बचकर निकलते हुए मैंने अपने अध्ययन में एक गंभीर ख़ामी छोड़ दी है। मगर विभाजन से जुड़े अनुभवों की यह दूसरी खेप भी इतनी विराट है कि एक बिल्कुल अलग जाँच-पड़ताल और विचार-विमर्श की माँग करती है।

अपने तर्क को आगे बढ़ाने से पहले मैं ठहर कर ये स्पष्ट कर देना चाहती हूँ कि इस क्षण में ऐसे अनुसंधान का अर्थ और प्रासंगिकता क्या है? इस सवाल का जवाब देने के लिए मैं संक्षेप में इतिहास लेखन संबंधी उन बृहत्तर नज़रियों पर विचार करूँगी जिनके दायरे में मेरी यह कोशिश एक बामानी उद्यम बन सकती है।

हालाँकि इतिहास लेखन में इस बात को अर्सा पहले ही मान्यता मिल चुकी है कि भारत का विभाजन बेइंतहा उथल-पुथल, गंभीर विस्थापनों और पुनर्संयोजनों का दौर था। इसके बावजूद, उस ज़माने में लोगों को मिले कड़वे अनुभवों पर ऐतिहासिक शोध की शुरुआत ख़रामाँ-ख़रामाँ और अब जाकर ही हो पाई है। भारत के बँटवारे का अध्ययन करने के लिए ज़रूरी स्रोतों और सामग्री की कोई कमी नहीं है। हमारे पास अधिकृत (सरकारी) रिकॉर्ड, दस्तावेज़, निजी और संस्थागत काग़ज़-पर्चे, राजनीतिक इतिहास, समकालीन लेखन, अख़बार, स्मृतियाँ, संसदीय बहसें और कई विश्लेषणपरक अध्ययन मौजूद हैं।

परंतु जब ऐतिहासिक लेखन पर फ़ोकस किया जाता है तो पता चलता है कि यह लेखन पुरुषों को ही इस पूरी प्रक्रिया के वाहक के रूप में देखने और विभाजन की जड़ के रूप में राज्य की नीतियों, राजनीतिक घटनाओं

और वार्ताओं के अध्ययन तक सीमित होकर रह गया है। यह मुख्य रूप से आरोप-प्रत्यारोपों का इतिहास है जिसमें कारण-कारक और अभिजात्य राजनीतिज्ञों पर ही ज़्यादा फ़ोकस रहा है। मिसाल के तौर पर, राष्ट्रवादी इतिहास लेखन में विभाजन को उस स्वतंत्रता के एक दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम या विसंगति के रूप में देखा जाता है जिसके लिए देश भर के लोगों ने साहस और शौर्य के साथ बलिदान दिए थे।

हालाँकि स्वतंत्रता+विभाजन के इस घटनायुग्म में भीषण हिंसा हुई मगर औपनिवेशिक और उत्तर औपनिवेशिक इतिहास में इस हिंसा की भूमिका का अध्ययन करने वाले विद्वानों को उंगलियों पर गिना जा सकता है। जैसा कि ज्ञान पांडेय मानते हैं, "विभाजन के ज़्यादातर इतिहास में हिंसा के इतिहास को बमुश्किल अब जाकर ही संबोधित किया जाने लगा है।"[5] हालाँकि विभाजन की हिंसा अपने आप में बेमिसाल थी, इसके बावजूद आमतौर पर उसे एक ऐसी चीज़ के रूप में देखा जाता रहा है जिसे भारत के शांतिपूर्ण, अहिंसक संघर्ष के इतिहास के बरक्स नहीं रखा जा सकता था। इस हिंसा ने एक मायने में गांधी के खाँटी अहिंसावादी सिद्धांतों की विफलता की ओर इशारा कर दिया है। इसके अलावा, क्योंकि इस हिंसा की ज़िम्मेदारी सभी संबंधित पक्षों — अंग्रेज़, हिंदू, मुसलमान, सिक्ख — पर थी इसलिए उसे ऐतिहासिक रूप से एक विचलन, सामान्यतः अहिंसक ढंग से हासिल की गई स्वतंत्रता के संघर्ष में 'पागलपन' के एक अस्वाभाविक क्षण के रूप में ही देखा जाता रहा है।

इस मौक़े पर विभाजन की राजनीति में अपनी जवाबदेही स्वीकार करने तथा जातीय हिंसा के सिलसिले को संभाल पाने में विफलता के लिहाज़ से अंग्रेज़ों की इस दौर को याद रखने की ज़िम्मेदारी का सवाल भी उठाया जा सकता है। अंग्रेज़ — ख़ासतौर से ब्रिटिश प्रेस, विभाजन के दौरान हुई हिंसा को भारतीयों में सभ्यता के निहित अभाव के सबूत की हैसियत से पेश करते रहे हैं। भारत से विदा हो रहे अंग्रेज़ प्रशासनिक स्तर पर सत्ता का शांतिपूर्ण हस्तांतरण सुनिश्चित नहीं कर पाए — इस बात को अंग्रेज़ सरकार भी याद रखना नहीं चाहती।

वैसे भी सरकारी विचारधारा क़ानून व्यवस्था और सामुदायिक सहअस्तित्व बनाए रखने की ज़रूरत के आधार पर विभाजन के समय हुई हिंसा के प्रकाशित और फ़िल्मी ब्योरों को सेंसर करना ज़रूरी मानती है। सरकार की नज़र में ये चीज़ें सांप्रदायिक भावनाओं को हवा देने या भड़काने का ज़रिया बन सकती हैं। क़ानून व्यवस्था के बारे में यह चिंता और देश के विभिन्न भागों में पैदा हो रहे नए अलगाववादी आंदोलन (भाषाई और क्षेत्रीय) राष्ट्रीय एकता के लिए ख़तरा पैदा कर रहे थे। आंशिक रूप से यह भी एक अहम वजह थी जिसके चलते राज्य तंत्र विभाजन को याद रखने और उसको समझने की कोशिश से बचता जा रहा था। नतीजा, सिर्फ़ आज़ादी का अथक गुणगान जारी था। इस प्रकार, "विभाजन का सवाल भारतीय इतिहास लेखन में अच्छे-ख़ासे समय तक एक 'विरोधाभासी स्थिति' में रहा है — इस लिहाज़ से कि बीसवीं शताब्दी के इतिहास की एक अत्यंत महत्वपूर्ण घटना होते हुए भी यह इतिहास के हाशिये पर जाकर सिमट गया।"[6]

बहरहाल, अस्सी के दशक से इतिहास की दुनिया में एक बदलाव सा आने लगा। तब से सामाजिक इतिहास के कई आयामों पर पहले से कहीं ज़्यादा ध्यान दिया जाने लगा है। इस दौरान जिस बात पर सबसे ज़्यादा ज़ोर दिया गया वह यह थी कि 'इतिहास को नीचे' से भी देखने की ज़रूरत है। इस सिलसिले में 'सबॉल्टर्न स्कूल' के साथ-साथ निम्नवर्ग और जेंडर के नज़रिये से इतिहास का पुनर्लेखन करने वाले इतिहासकारों का भी ज़बर्दस्त योगदान रहा है।[7]

अस्सी के दशक में कई मुक्तिदायी आंदोलनों, ख़ासतौर से नारीवादी आंदोलन में भी एक नया जोश और जज़्बा दिखाई दिया। इतिहासकार स्वतंत्रता आंदोलन और उसके बाद चले नाना सामाजिक-आर्थिक आंदोलनों में औरतों की उपस्थिति को एक बार फिर दर्ज करने लगे।[8]

अस्सी के ही दशक में अत्यंत शक्तिशाली हिंदू (तथा सिक्ख) दक्षिणपंथी आंदोलनों का भी उदय हुआ। यह घटनाक्रम दुनिया भर में कठमुल्लावादी ताक़तों को मिल रही बढ़त के ऐन मुताबिक़ था। और सबसे बढ़कर, इसी दशक में सांप्रदायिक तनावों और हिंसा की एक नई लहर शुरू हुई। मिसाल के तौर पर, 1984 में दिल्ली के सांप्रदायिक हमलों में सिक्ख निशाना बने। 1989 में बिहार के भागलपुर में सैंकड़ों मुसलमान मौत के घाट उतार दिए गए। चंद साल बाद, 1992 में जुनूनी हिंदू धर्मांधों ने अयोध्या स्थित बाबरी मस्जिद ढहा दी। इस

घटना के बाद सूरत, मुंबई और हाल ही में गुजरात में हम सांप्रदायिक हिंसा की अनगिनत घटनाओं के साक्षी बन चुके हैं। इन सारे मौक़ों पर विभाजन की कहानियों और यादों को हमलावरों ने सुनियोजित ढंग से और चुन-चुन कर इस्तेमाल किया है।

इतना ही नहीं, हमारे पास सरहद के दोनों तरफ़ होने वाले रक्तपात की भी असंख्य स्मृतियाँ हैं। वहाँ कभी दंगे के रूप में तो कभी जाति संहार के रूप में, कभी भारत और पाकिस्तान द्वारा छेड़े गए अनधिकृत युद्धों के रूप में तो कभी अधिकृत युद्ध के रूप में असंख्य लोग हिंसा का शिकार बन चुके हैं। कश्मीर घाटी में होने वाली दैनंदिन हिंसा या भारत-पाकिस्तान के बीच हुआ कारगिल युद्ध इसी श्रृंखला का हिस्सा हैं।

इस प्रकार, हम कभी इस अहसास से आज़ाद नहीं हो पाते कि भारत के सामाजिक-राजनीतिक जीवन पर विभाजन का इतिहास आज भी हावी है। गुजरात में मुसलमानों पर हुए हालिया सांप्रदायिक हमले एक बार फिर इस बात की ओर इशारा करते हैं कि 'विभाजन' को इतनी आसानी से हाशिए पर नहीं सरकाया जा सकता, कि हमारे सामने हर ओर 'विभाजन' बने हुए हैं। हमारे सामने हर तरफ़ उसके गहरे व्यक्तिगत मानी हैं, उससे पैदा हुए विच्छेद का एक गहरा अहसास है, उससे पैदा हुए या और मज़बूत हो गए फ़ासले आज भी लोगों की ज़िंदगी में क़ायम हैं। कहने का आशय यह है कि विभाजन महज एक 'राजनीतिक विभाजन' से कहीं ज़्यादा था और निश्चय ही उससे कहीं ज़्यादा विराट था जो अगस्त 1947 में घटा था। वस्तुतः यह हमारे काल की वो 'अनकही दहशत' है जिसने सरहदों को बाँटने के साथ-साथ 'दिलों को भी चीर कर रख दिया'।

मैं इस गहरे अहसास के साथ ही विभाजन के दौरान महिलाओं के अनुभवों को अध्ययन का विषय बनाने का फ़ैसला ले रही हूँ। इस लेख के दायरे में मैं अपनी तफ़्तीश को इसी बात तक महदूद रखूँगी कि औरतों ने बँटवारे के बाद दिल्ली में अपनी ज़िंदगी को दोबारा ढर्रे पर लाने और उसे टिकाये रखने की चुनौती को किस तरह अंजाम दिया। इस अध्ययन में मैंने मुख्य रूप से मौखिक इतिहास की पद्धतियों — ख़ासतौर से साक्षात्कार और बयानों — का इस्तेमाल किया है मगर साथ ही पुराने और समकालीन अख़बारों, इस विषय पर उपलब्ध किताबों, स्मृतियों, निजी दस्तावेज़ों, संसदीय बयानों, आधिकारिक (सरकारी) और ग़ैर-सरकारी रिपोर्टों, जर्नलों, प्रकाशित दस्तावेज़ों और जनगणना सर्वेक्षणों का भी इस्तेमाल किया है।

विभाजन का एक गंभीर परिणाम विस्थापन, जबरिया पलायन और अफ़रा-तफ़री के रूप में सामने आया। इस घटना के बाद बहुत सारी औरतों को अपने घर-परिवार और साजो-सामान से महरूम हो जाने के बाद पुनर्निर्माण और स्थायित्व प्राप्त करने के एक कठिन काम को अंजाम देना था। हालात इसलिए और भी कठिन थे क्योंकि उनमें से न जाने कितनी औरतों ने इससे पहले घर की चौखट के बाहर कभी पैर भी नहीं रखा था।

हालात, आर्थिक मजबूरी और हर सूरत में घर के पुनर्निर्माण की ज़रूरत ने सभी वर्गों की बहुत सारी औरतों को किसी न किसी ज़रिए से पैसा कमाने और घर की आमदनी में हिस्सा देने के लिए विवश कर दिया। इस पर्चे में विभाजन के बाद दिल्ली की महिलाओं द्वारा जीविकोपार्जन, पुनर्निर्माण और रोज़गार के लिए की गई जद्दोजहद को समझने-बूझने की कोशिश की गई है।

1947 में दिल्ली मोटे तौर पर पुराने शहर की चौहद्दी तक सीमित थी। विभाजन के बाद तक़रीबन 47.5 लाख शरणार्थी भारत आए और उनमें से तक़रीबन 5 लाख ने दिल्ली में आकर डेरा डाल दिया।[9] 1947 तक दिल्ली की आबादी 9.5 लाख थी।[10] विभाजन के समय 3.3 लाख मुसलमान दिल्ली से निकल गए और इस तरह यहाँ की आबादी 6 लाख रह गई।[11] 1951 तक राजधानी आकार के लिहाज़ से काफ़ी फैल चुकी थी (अब यहाँ की आबादी 17.44 लाख थी, जो 1941 की आबादी के मुक़ाबले 90 प्रतिशत ज़्यादा थी), और यहाँ की आबादी में 28.4 प्रतिशत हिस्सा विभाजन के बाद आए शरणार्थियों का था।[12] जैसा कि ज्ञान पांडेय ने कहा है, 1950 और उसके बाद की दिल्ली को राजनीतिक, सांस्कृतिक और यहाँ तक कि जनसांख्यिकीय दृष्टि से भी 'विभाजनोत्तर' शहर कहा जा सकता है।[13]

1947 में पंजाब से आए हिंदू और सिक्ख 'शरणार्थियों' की आमद के साथ दिल्ली की शक्ल-सूरत स्थायी रूप से बदल गई। इनमें से बहुत सारे शरणार्थी नई दिल्ली तक भी जा पहुँचे जो तब तक पुराने शहर का एक

शांत औपनिवेशिक उपनगरीय इलाक़ा हुआ करता था। एडवर्ड लुटियंस के दिशानिर्देश में बीस के दशक में नियोजित और निर्मित दिल्ली की शाही सरकारी इमारतों, चौड़े-चौड़े रास्तों और आलीशान बंगलों को एक स्मारक की सी महत्वाकांक्षा के साथ बनाया गया था। अंग्रेज़ पहले दिन से ही इस शहर को एक आधुनिक शाही शहर — वायसराय के तबोताब और ताक़त की निशानी — की हैसियत में ढालने को बेताब थे। मगर अपने तमाम आडंबर और भव्यता के बावजूद कलकत्ता या बंबई की तुलना में देश की यह राजधानी सरकारी आला अफ़सरों और क्लर्कों की रिहाइश से आबाद बेरंग और ठहरी हुई दिखाई देती थी।

शरणार्थियों के लिए नई दिल्ली का सबसे बुनियादी आकर्षण यह था कि यहाँ शहर के दक्षिणी और पश्चिमी इलाक़ों में बहुत सारी अविकसित ज़मीन ख़ाली पड़ी थी।[14] राजधानी होने के नाते दिल्ली को ज़्यादा सुरक्षित भी माना जाता था और यहाँ राहत शिविर और पुनर्वास कार्य भी बड़े पैमाने पर जारी थे। बहुत सारे लोगों के लिए उत्तर भारत में कारोबार और काम-धंधा जमाने के लिहाज़ से भी दिल्ली ही सबसे अच्छा विकल्प थी। यह पंजाब के पास पड़ती थी, भौगोलिक रूप से बड़ी मुफ़ीद जगह पर स्थित थी और राजधानी तो थी ही। सरहद पर पड़ा अमृतसर दंगों की मार से आहत था, लुधियाना अब तक पूरी तरह विकसित नहीं था और अंबाला में पीने का पानी नहीं था।[15] कुछ सरकारी नौकर तबादले पर दिल्ली आते थे, बहुत सारे जात-बिरादरी के चलते यहाँ आते थे और ज़्यादातर बस इत्तेफ़ाक़ से यहाँ पहुँच जाते थे।

दिल्ली में शरणार्थियों की बाढ़ थी और वे जहाँ जगह मिलती थी, पैर पसार देते थे। "शिविरों, स्कूलों, कॉलेजों, मंदिरों, गुरुद्वारों, धर्मशालाओं, फ़ौजी बैरकों और बाग़ों में उन्हीं की भरमार थी। रेलवे प्लैटफ़ॉर्म पर, सड़क पर, फुटपाथों पर और हर मुमकिन कोने पर वह डेरा डाले बैठे थे।"[16]

आज, महज़ आधी सदी के भीतर दिल्ली — राजधानी शहर — चार गुना फैल चुकी है। कहने को तो नई दिल्ली की ज़्यादातर चौड़ी सड़कें आज भी अपनी जगह हैं और बहुत सारे लंबे-चौड़े बंगलों में अभी भी राजनेताओं, आला अफ़सरों और चोटी के फ़ौजी अहलकारों का ही क़याम है। मगर सुविधा और सत्ता की इस विशिष्ट चौहद्दी के परे नवविकसित इलाक़े और दरबे भी हैं जो नगरपालिका की सीमाओं के पार तक फैल चुके हैं। हालाँकि शहर फैलता जा रहा है मगर नई दिल्ली में एक 'शरणार्थी बस्ती' का ऊबड़-खाबड़पन और मौक़ापरस्त माहौल बना हुआ है। अपनी पुस्तक *दि आइडिया ऑफ़ इंडिया* में सुनील खिलनानी ने दिल्ली में आए कुछ बदलावों को इस प्रकार बयान किया हैः

> विभाजन ने इस शहरी दुनिया पर पहला गंभीर बोझ डाल दिया। उसने आधुनिक शहर के सार्वजनिक स्थानों के अस्तित्व के लिए एक नया ख़तरा पैदा कर दिया। अब तक धार्मिक टकराव शहर के 'पुराने' इलाक़ों तक ही महदूद थे पर अब यह समस्या शहर की हर गली, हर सड़क पर सिर उठाने लगी थी। उसने बेइंतहा तेज़ी से असंख्य बेघरबार लोगों को शहर में लाकर पटक दिया। जिस समाज में क्षेत्रीय गतिशीलता बस नाममात्र को थी (1931 में देश की आबादी में 4 प्रतिशत लोग भी ऐसे नहीं थे जो अपने जन्म के राज्य या प्रांत से बाहर रहते हों) वहाँ विभाजन ने इंसानी तारीख़ में आबादी के सबसे बड़े स्थानांतरण का सिलसिला शुरू कर दिया ...। दिल्ली एक पंजाबी शहर बन गया।[17]

पंजाबी की मशहूर अफ़सानानिगार और कवयित्री अमृता प्रीतम 1947 में दिल्ली आईं। इसके बाद ताज़िन्दगी अपना घर बन जाने वाली इस दिल्ली में आने के पचास साल बाद उन्होंने उस दौर को याद किया :

> तक़्सीम से पहले जब हम लाहौर में थे तो दिल्ली की बड़ी तारीफ़ किया करते थे। हमारी नज़र में यह महान शहर — शांत, सौम्य और ख़ामोश, ऐतिहासिक यादों का शहर था — जहाँ के मशहूर स्मारक बड़ी ख़ामोशी और सुकून से अपने वैभव और वर्चस्व के इतिहास की कहानी उन सबको सुनाते थे जो यह कहानी सुनने को तैयार थे। विभाजन के बाद जब हम यहाँ पहुँचे और जब हमें ये अहसास हुआ कि अब यही शहर हमारा नया घर होने जा रहा है तो हमने अपने दिलों में जो नज़रिये और जो तस्वीर इस शहर की सहेज कर रखी हुई थी उस पर

> लकीरें पड़ने लगीं। जब हम हक़ीक़त से रूबरू हुए तो दिल्ली की जो सपनीली, रूमानी सी तस्वीर हमारे ज़ेहन में थी वो ज़र्द-ज़र्द सी दिखाई देने लगी। उस ज़माने में शरणार्थियों के लिए यह ज़िंदा रहने का सवाल था। हमारे पास कोई विकल्प नहीं था, हमें जो भी जगह मिले, वहीं रहना था और जो भी मिले वही काम करना था। पर, सच कहूँ तो इसके बावजूद मेरा पूरी तरह मोहभंग नहीं हुआ था, बल्कि मैं शुक्रगुज़ार ही महसूस करती थी। हमें अपने ही मुल्क से देश निकाला दे दिया गया था और दिल्ली एवं यहाँ के लोगों ने हमें एक और घर दे दिया।[18]

हालाँकि दिल्ली एक 'रिफ़्यूजिस्तान' में तब्दील हो चुकी थी — क्योंकि इस शहर ने असंख्य उजड़े हुए लोगों को नए घर दिए थे — बहुत सारे लोगों के लिए दिल्ली आने वाले कई सालों तक एक अनजान, अजनबी जगह बनी रही। ख़ासतौर से यहाँ की औरतों के लिए, जिन्हें अपहरण, लूटमार, यौन हिंसा, वैधव्य, मनोवैज्ञानिक एवं भावनात्मक टूटन, और परिवार की तबाही के बावजूद अपनी ज़िंदगी चलानी थी, एक बिल्कुल अजनबी ज़मीन पर ज़िंदा रहने के नए-नए रास्ते ईजाद करने थे — जबकि न तो वह इसके लिए तैयार थीं और न ही इसके लायक़ थीं।

इस प्रकार, हालाँकि तथाकथित 'शासक' वर्ग और विभाजन के सदमे से पूरी तरह अछूते बच गए, बहुत सारे आम लोग भी ख़ुशी-ख़ुशी आज़ादी का जश्न मना रहे थे — बहुत सारे 'शरणार्थियों' की तरह औरतों के लिए, ख़ासतौर से पश्चिमी पंजाब से दिल्ली आई मध्यवर्गीय हिंदू औरतों और दिल्ली की कम संपन्न मुस्लिम आबादी के लिए आज़ादी एक बिल्कुल 'अमूर्त' चीज़ थी।[19] उनके लिए इसका मतलब अपनी जड़ों से उजड़ जाने के अलावा और कुछ नहीं था क्योंकि उसने एक ही झटके में उनकी 'कौटुंबिक सरणियों' को बंद कर दिया था। उनके लिए आज़ादी और विभाजन को अलग-अलग मानना मुश्किल था, उनके लिए ये दोनों एक ही घटना के दो अलग-अलग नाम भर थे। उनके लिए आज़ादी का मतलब था एक ऐसी स्थिति में भी ज़िंदगी बसर करना, ज़िंदगी को नए सिरे से ढर्रे पर लाना, उसे स्थायित्व देना — जहाँ वह अपने घर की चारदीवारी में ही क़ैद थीं। इसीलिए ज्ञान पांडेय ज़ोर देकर कहते हैं, "जिस परिघटना को कुछ लोग 'आज़ादी' का नाम देते हैं वह कभी भी इस विरासत का हिस्सा नहीं थी, बल्कि यह तो विभाजन का रक्तपात ही था जिसने बहुत सारे 'आम लोगों' को आज़ादी के मायने गढ़ने का ज़रिया दे दिया।"[20]

विभाजन को 'राष्ट्रीय विपदा' की घड़ी माना गया।[21] और बेशक यह इस तरह की घटना थी भी, क्योंकि उसने सरकारी तंत्र को सुनियोजित ढंग से अपनी प्रतिक्रिया देने के लिए विवश कर दिया था। चौतरफ़ा हिंसा और घर-बार व रोज़ी-रोटी की तबाही के हालात में औरतों का पुनर्वास न केवल एक फ़ौरी और गहरी ज़रूरत का सबब था बल्कि राज्य की ख़ुद को 'कृपालु' और 'पितृवत' छवि में पेश करने की चाह के लिए भी ज़रूरी था। विभाजन के बाद राज्य ने अपनी जड़ों से उजड़ चुकी औरतों के पुनर्वास का दुरूह काम शुरू कर दिया। इस मक़सद के लिए जगह-जगह ट्रांज़िट कैंप, राहत केंद्र, पुनर्वास गृह, व्यावसायिक प्रशिक्षण केंद्र खोले गए। राहत एवं पुनर्वास मंत्रालय ने जानी-मानी महिला सामाजिक कार्यकर्ताओं की देखरेख में एक 'महिला विभाग' भी क़ायम कर दिया।[22]

महिला विभाग का सबसे बड़ा काम औरतों को आर्थिक परनिर्भरता की क़ैद से आज़ाद कराना और उन्हें किसी न किसी तरह की आर्थिक रूप से उपादेय गतिविधियों से जोड़ना बताया जाता था। उम्मीद की जाती थी कि लंबे दौर में, ख़ासतौर से औरतों को ध्यान में रखकर सोची गई बस्तियाँ विकसित की जाएँगी जिनमें न केवल शरणार्थी औरतों को बल्कि तमाम तरह की बेसहारा औरतों को पनाह मिलेगी। इसीलिए राज्य और केंद्र सरकारों से आग्रह किया गया कि वह बड़े शहरों के आसपास इस 'नए प्रयोग' के लिए खुली और लंबी-चौड़ी ज़मीनें मुहैया कराएँ। जिन औरतों के पास थोड़ी-बहुत शैक्षणिक दक्षता थी उन्हें नर्सिंग, दाईगिरी, अध्यापन, स्टेनोग्राफ़ी, लेखांकन और कार्यालय प्रबंधन जैसे 'उपयोगी व्यवसायों' के प्रशिक्षण देने की योजना बनाई गई। जिनके पास पढ़ाई-लिखाई का ज्ञान बहुत कम या बिल्कुल नहीं था उन्हें कढ़ाई, सिलाई और ऐसे ही दूसरे हुनर सिखाने का फ़ैसला लिया गया। औरतों को व्यावसायिक प्रशिक्षण और रोज़गार मुहैया कराने की योजना के तहत यह महिला विभाग बहुत सारे प्रशिक्षण केंद्रों, शैक्षणिक संस्थानों और स्वैच्छिक एवं सामाजिक संगठनों के साथ मिलकर काम

करता था। इन संस्थानों में टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ़ सोशल साइंसेज़, श्रम मंत्रालय के दिल्ली स्थित व्यावसायिक प्रशिक्षण केंद्र, कस्तूरबा गांधी मेमोरियल ट्रस्ट और नई दिल्ली स्थित लेडी हार्डिंग मेडिकल कॉलेज आदि प्रमुख थे। प्रशिक्षण प्राप्त कर चुकी महिलाओं को नौकरी दिलाने के लिए श्रम मंत्रालय के रोज़गार कार्यालय के साथ मिलकर एक रोज़गार ब्यूरो भी क़ायम किया गया। मार्च 1949 की एक रिपोर्ट में बताया गया था कि रोज़गार ब्यूरो के ज़रिए 500 औरतें रोज़गार हासिल कर चुकी थीं।[23]

मई 1949 में जब पुनर्वास एवं रोज़गार महानिदेशक ने पुनर्वास कार्यों की समीक्षा की तो रोज़गार निदेशालय में 98,314 आवेदकों के नाम पंजीकृत पाए गए। इनमें से 24,443 को रोज़गार दिया जा चुका था जिनमें से 4,962 यानी 20 प्रतिशत विस्थापित महिलाएँ थीं। इनमें स्कूल में काम करने वाली माई, दर्ज़िन और कपड़े की छपाई (कैलिको प्रिंटिंग) जैसी नौकरियाँ शामिल थीं। प्रशिक्षण महानिदेशालय में पंजीकृत 278 महिलाओं (विस्थापित) को श्रम मंत्रालय के तहत कर्ज़न रोड पर चलने वाले एक प्रशिक्षण केंद्र में प्रशिक्षण दिया जा रहा था।[24]

ज़्यादातर व्यावसायिक एवं तकनीकी उत्पादन व प्रशिक्षण केंद्र फ़रवरी-अगस्त 1948 के बीच खोले गए थे। ये सभी केंद्र पुनर्वास एवं रोज़गार महानिदेशक के तहत आते थे। 1949 में उन्हें पुनर्वास विभाग, दिल्ली प्रशासन की निगरानी में स्थानांतरित कर दिया गया।[25] जल्दी ही इन केंद्रों को काफ़ी लोकप्रियता मिलने लगी।

इन केंद्रों के ज़रिए प्रशिक्षण और रोज़गार पाने की चाह रखने वाली औरतें बहुत थीं। दिल्ली आने के समय रणजीत कौर किशोरावस्था में थीं। वह लायलपुर से अपने पिता का हाथ थामे यहाँ आई थीं। लायलपुर की कैनाल कॉलनीज़ से शरणार्थियों के सबसे बड़े जत्थे निकले थे। इन जत्थों में चार लाख से ज़्यादा लोग थे। रणजीत कौर ने सिर्फ पाँचवीं जमात तक और वह भी पंजाबी में तालीम हासिल की थी। अपनी इस मामूली सी पढ़ाई के आधार पर वह कनॉट प्लेस में खोले गए प्रशिक्षण केंद्र में दाख़िला नहीं ले सकती थीं। मगर उन्होंने हिम्मत नहीं हारी। प्राइवेट पढ़ाई के ज़रिए जल्दी ही उन्होंने आवश्यक योग्यता हासिल कर ली और 1955 में यहाँ प्रशिक्षु के तौर पर दाख़िला पा लिया। आगे चलकर वह चाँदनी चौक केंद्र की प्रधानाचार्या के पद से सेवानिवृत्त हुईं। कुछ ऐसी ही कहानी एक बूढ़ी औरत की थी जिसने अपनी बेटी, बेटों और अपनी बहुओं को अपने सामने मरते देखा था। ज़ाहिर है यह औरत गहरे सदमे में थी। वह निपट अकेली दिल्ली पहुँची थी और आख़िरकार हडसन लाइन, किंग्ज़वे कैंप के एक केंद्र में भर्ती हो गई।[26] सियालकोट से चल कर दिल्ली आई भगवती बनौटा नाम की एक और महिला ने अपना घर चलाने के लिए कालकाजी केंद्र में दाख़िला ले लिया।[27]

पुनर्वास मंत्रालय के विमेन सेक्शन की रिपोर्ट (दिनांक 2 फ़रवरी 1949) के मुताबिक़ बहुत सारी औरतें कार्य एवं प्रशिक्षण केंद्रों से फ़ायदा उठा रही थीं। इस बारे में नीचे दी गई तालिका से और अच्छी तरह अंदाज़ा लगाया जा सकता है।[28]

केंद्र	**वेतनभोगियों की संख्या**	**प्रशिक्षुओं की संख्या**
करोल बाग़	500	254
सब्ज़ी मंडी	401	102
पहाड़गंज	260	133
लोदी रोड	180	54
8, सेंट्रल लेन	195	84
कनॉट सर्कस	78	222
महरौली	350	150
हुमायूँ रोड	250	140
बेला रोड	300	106
कुल	2514	1275

सन् 1951 तक दिल्ली में 13 केंद्र खुल चुके थे (जिनमें कालकाजी, मालवीय नगर, शंकर मार्केट, लहना सिंह मार्केट स्थित केंद्र भी शामिल थे)। इन केंद्रों में तक़रीबन 1800 महिलाएँ थीं। हाल ही में खोले गए कुछ नए केंद्रों में महिलाओं से उम्मीद की जाने लगी कि वह सिलाई की मशीन साथ लेकर आया करें। पचास के दशक की शुरुआत में उनकी मासिक आमदनी 12 से 50 रुपए तक थी।[29]

इन केंद्रों की उत्पादन शाखा का मुख्य काम सरकारी और अन्य सार्वजनिक उद्यमों में काम करने वाले कर्मचारियों की वर्दी सीने तक सीमित था। ज़्यादातर शरणार्थी औरतों को इन केंद्रों की उत्पादन शाखाओं में ही काम दिया जा रहा था। मगर धीरे-धीरे बाज़ार में भी उनकी बनाई चीज़ों की बिक्री की गुंजाइश दिखाई देने लगी थी। 1956 में कनॉट प्लेस की मशहूर शरणार्थी हस्तकला दुकान खुली जहाँ बिक्री के लिए पाँच तरह के कढ़ाईदार रेशमी कपड़े और हाथ से बनी चीज़ें बिकने लगीं।

इन केंद्रों की 'प्रशिक्षण शाखाओं' का मक़सद औरतों को सिलाई-बुनाई-कढ़ाई, टाइपिंग, अचार बनाने, टोकरियाँ बनाने, ठप्पे और कपड़े की छपाई, कैलिको छपाई आदि का प्रशिक्षण देना था। कुल मिलाकर लक्ष्य यह था कि औरतों को ऐसे हुनर सिखा दिए जाएँ जिससे वह खुद अपने बूते पर काम-धंधा करने लगें। ऐसी बहुत सारी महिलाओं ने या तो को-ऑपरेटिव सोसायटियों की सदस्यता ले ली या वह स्वतंत्र इकाइयों में काम करने लगीं। इस दौरान औरतों को लेकर बहुत सारी को-ऑपरेटिव सोसायटीज़ शुरू की गईं जो उन्हें रोज़गार के साधन और मौक़े मुहैया कराती थीं। 1949 में राहत एवं पुनर्वास मंत्रालय को सहायक पंजीकार, को-ऑपरेटिव सोसायटीज़ की ओर से एक पत्र लिखा गया जिसमें माँग की गई कि को-ऑपरेटिव सोसायटीज़ को क़र्ज़े देने का इंतज़ाम किया जाए। इस पत्र में महिलाओं की इन को-ऑपरेटिव सोसायटीज़ के नामों का उल्लेख किया गया था[30]:

नाम	**महिला कामगारों की संख्या**	**जगह**
विमेन को-ऑपरेटिव इंडस्ट्रियल सोसायटी	135	मेटकाफ़ रोड
महिला उद्योग संघ को-ऑपरेटिव इंडस्ट्रियल सोसायटी	280	क्वींस वे
पुराना क़िला महिला सहकारी उद्योग संघ	150	पुराना क़िला
डेल्ही विमेन लीग रेफ़्यूजी को-ऑपरेटिव सोसायटी	45	कश्मीरी गेट

इस प्रकार राज्य बहुत सारी विस्थापित महिलाओं को उपयोगी प्रशिक्षण और दक्षता उपलब्ध कराते हुए, उन्हें रोज़गार की दुनिया में उतरने के लिए ज़रूरी हुनर से लैस करते हुए घर के मुखिया की तरह मनमाने ढंग से काम कर रहा था। उसकी सारी सरगर्मियों का मक़सद विस्थापित महिलाओं को आर्थिक मुख्यधारा में शामिल करना था। यह एक ऐसा काम था जिसे राज्य शहर की अन्य महिला नागरिकों के लिए नहीं कर सकता था क्योंकि वह स्थिर, व्यवस्थित पितृसत्तात्मक घरों का हिस्सा थीं। समस्या की विशालता को देखते हुए राहत कार्यों, व्यावसायिक प्रशिक्षण एवं उत्पादन केंद्रों का पूरा इंतज़ाम बुनियादी तौर पर 'तदर्थवादी' क़िस्म का ही था।

इन केंद्रों का छिदा-बिंधा प्रशासकीय इतिहास उनके बदलते चरित्र और उनके प्रति सरकार की दुविधा को प्रतिबिंबित करता है। चालीस साल के वक़्फ़े में इन केंद्रों का प्रशासकीय नियंत्रण दो बार केंद्र सरकार से राज्य सरकार के हाथों में गया और केंद्र सरकार ने भी उन्हें चार बार अलग-अलग मंत्रालयों को सौंपा। राज्य तंत्र के भीतर उन्होंने दो अलग-अलग विभागों के नियंत्रण में काम किया। 1957 में तक़रीबन 1000 कामगारों से लैस 13 केंद्रों को वापस केंद्रीय पुनर्वास मंत्रालय को हस्तांतरित कर दिया गया। 1960 में जब मंत्रालय के पश्चिमी विंग को बंद कर दिया गया तो इन केंद्रों को भी कार्य एवं आवास मंत्रालय को सौंप दिया गया। इसके बाद ये केंद्र श्रम मंत्रालय को सुपुर्द किए गए और आख़िर में वह शिक्षा एवं समाज कल्याण मंत्रालय के हवाले कर दिए गए। 1974 तक ये केंद्र समाज कल्याण मंत्रालय के ही अंतर्गत चलते रहे। उस समय तक इन केंद्रों की संख्या 19 हो चुकी थी और उनमें 1075 कामगार थे। इस अवधि में इन कामगारों की औसत मासिक आय 45 रुपए से लेकर 400 रुपए तक होती थी।[31]

1975 में उन्हें एक बार फिर दिल्ली प्रशासन के हवाले कर दिया गया जिसके तहत वह हाल ही तक हुआ करते थे। लेकिन अब इनमें से बहुत सारे केंद्र बंद किए जा चुके हैं और जो अभी भी मौजूद हैं वह जीर्ण-शीर्ण हालत में हैं या ठहराव का शिकार हैं। अब इन्हें दिल्ली सरकार के 'सौतेले बच्चों' की तरह देखा जाता है। इन केंद्रों में रोज़गारशुदा औरतें कठोर अनुशासन में अथक परिश्रम करती थीं। उनके ऊपर वह सारे औपचारिक क़ायदे-क़ानून लागू थे जो समय दर के हिसाब से काम करने वाले कामगारों पर लागू होते हैं। इनमें हर रोज़ 8 घंटे की पाली, सप्ताह में 6 दिन काम, रोज़ाना हाज़िरी और मासिक वेतन जैसे प्रावधान शामिल थे। इन महिलाओं को पक्के कामगारों को मिलने वाले फ़ायदे कभी नहीं मिले। उनकी तनख़्वाह सदा मामूली ही रही और पेंशन का सुख उनमें से किसी को नहीं मिल पाया।

इन केंद्रों में बालवाड़ी का कोई इंतज़ाम नहीं था। जिन मशीनों पर औरतें काम करती थीं वह हाथ से चलने वाली साधारण सिलाई मशीनें थीं। बहुत सारी औरतें लगातार घंटों तक फ़र्श पर झुकी बैठी रहती थीं। बहुत सारे केंद्रों में तो बिजली का इंतज़ाम भी बहुत बाद में ही जाकर हो पाया।

जो राज्य 1947 के बाद इन केंद्रों को शुरू करने के बारे में इतना 'कृपालु' और उत्साही था वह धीरे-धीरे उनके प्रति एक भ्रम और दुविधा का रवैया अपनाने लगा। जैसे-जैसे राज्य की नज़र में 'विभाजन' 'अतीत की कोई चीज़' बनता गया, वैसे-वैसे इन महिलाओं के पुनर्वास के प्रति उसका रवैया भी बदलता चला गया। जैसे ही यह दिखाई देने लगा कि अब विभाजन एक 'बीती कहानी' बन चुका है, वैसे ही कल तक का अतिसक्रिय, पितृवत् राज्य अपनी कथित 'ज़िम्मेदारियों' से पीछे हटने लगा।

सरकार और उसकी दुविधा के अलावा ये केंद्र अपने आप में भी गहरे बदलावों से गुज़र चुके हैं। शुरुआत में तक़रीबन सारे केंद्रों में प्रशिक्षण दिया जाता था मगर ज़्यादा ज़ोर उत्पादन पर ही रहता था। अब उत्पादन की बजाय प्रशिक्षण की ओर ज़्यादा झुकाव होने लगा है। मिसाल के तौर पर, अब इन केंद्रों में टाइपिंग, शॉर्टहैंड, सेक्रेटेरियल प्रैक्टिस और ब्यूटीशियन जैसे नए पाठ्यक्रम (जिनकी अब ज़्यादा माँग है) भी शुरू किए गए हैं। समय के साथ इन केंद्रों में आने वाली महिला कामगारों की पृष्ठभूमि भी बदलती दिखाई देती है। अब इन केंद्रों में उत्तर प्रदेश, राजस्थान और दिल्ली की ऐसी औरतें भी आने लगी हैं जो शरणार्थी नहीं थीं। कुछ बूढ़ी औरतें मर चुकी हैं। कइयों को निजी टेलरिंग के क्षेत्र में बेहतर मौक़े मिल रहे हैं। मगर क्योंकि निजी एजेंसियाँ कुँवारी लड़कियों को काम पर रखने की ज़्यादा कोशिश करती हैं इसलिए यह विकल्प सभी औरतों के लिए उपलब्ध नहीं था। 1989 में पुराने मानकों की तुलना में 300 में से 220-225 महिलाएँ ही शरणार्थी पृष्ठभूमि वाली थीं।[32]

इसी तरह की दुविधा सरकार द्वारा स्थापित की गई को-ऑपरेटिव सोसायटीज़ के मामले में भी दिखाई देती है। रिफ़्यूजी वीमेंस को-ऑपरेटिव सोसायटी को 1949 में विभाजन के कारण विधवा हुई औरतों को रोज़गार मुहैया कराने के लिए स्थापित किया गया था। पचास के दशक में चाँद कोहली नामक एक सामाजिक कार्यकर्ता ने इस सोसायटी को चलाने में एक अहम भूमिका अदा की थी। इस सोसायटी से जुड़ी महिलाएँ आमदनी के लिए मुख्य रूप से सीपीडब्ल्यूडी कर्मचारियों और केंद्र सरकार के तृतीय और चतुर्थ श्रेणी के अस्पतालकर्मियों और डेसू कर्मचारियों की वर्दियाँ तैयार करती थीं। इस को-ऑपरेटिव सोसायटी को इन संस्थाओं से थोक ऑर्डर मिलते थे और काम के स्वरूप और स्तर के आधार पर हर औरत को औसतन 20 रुपए से 60 रुपए माहवार तक वेतन मिलता था।

1949 में रेफ़्यूजी वीमेंस को-ऑपरेटिव सोसायटी, कनॉट प्लेस, में इंडियन ऑयल भवन की पुरानी इमारत में यानी शहर के एक बढ़िया ठिकाने पर स्थित थी। इसमें बहुत सारी महिलाएँ काम करती थीं। शुरुआत में उन्हें सिलाई मशीन, बुकरम, धागा आदि भी को-ऑपरेटिव सोसायटी से ही मिलता था। आगे चलकर साठ के दशक में कुछ महिलाओं से अपनी सिलाई मशीन और बाक़ी चीज़ें मंगाई जाने लगीं। पचास और साठ के दशकों में इस को-ऑपरेटिव सोसायटी में काम कर चुकी प्रेम मन्ना बताती हैं:

> मैं अपना और अपने बच्चों का पेट पालने के लिए इस को-ऑपरेटिव सोसायटी में शामिल हुई थी। मुझे वहाँ शुरू में 50 रुपए माहवार मिलते थे जिसके सहारे मैंने अपने बच्चों को

> पढ़ा-लिखा कर बड़ा किया। उस समय हमारे पास काम करने के लिए अलग-अलग सिलाई मशीनें थीं। मैं पहाड़गंज में रहती थी इसलिए बस पकड़ कर को-ऑपरेटिव सोसायटी तक जाना बड़ा आसान था। साठ के दशक में मशीनों पर बोझ बढ़ने लगा इसलिए कभी-कभी मैं पहाड़गंज से कनॉट प्लेस तक बस में ही अपनी सिलाई मशीन भी लेकर जाने लगी। उस ज़माने में बस का किराया 10 पैसे हुआ करता था। साठ के ही दशक में मेरी तनख़्वाह भी बढ़ी थी — 100 रुपए माहवार...। पर बाद में सोसायटी को काम के ऑर्डर मिलने बंद होने लगे, काम ख़त्म होने लगा, बस का किराया बढ़ गया और हमारी नियमित आमदनी बंद हो गई। सोसायटी छोड़ने के बाद मुझे सरकारी नौकरों की तरह वहाँ से कोई पेंशन नहीं मिली।[33]

पुरानी इंडियन ऑयल बिल्डिंग से अपना सफ़र शुरू करने वाली रिफ़्यूजी वीमेंस को-ऑपरेटिव सोसायटी को बाद में पुराने कॉटेज एम्पोरियम में स्थानांतरित कर दिया गया। अब यह सोसायटी पुराने कॉटेज एम्पोरियम के ऊपर एक छोटे से बरामदे के अलावा और कुछ नहीं बची है। एक ज़माने में सरकारी सहायता से शुरू की गई इस सोसायटी को अब अपने सारे काम चलाने के लिए ज़रूरी अनुदान भी नहीं मिलते। इस को-ऑपरेटिव सोसायटी और उसमें काम करने वाली औरतों की दुनिया भी नाटकीय रूप से बदल चुकी है। सोसायटी की वर्तमान कर्ता-धर्ता मंजीत कौर बताती हैं:

> आज हालात बदल चुके हैं। अब श्रेणी तीन और चार के कर्मचारियों को सामान (कपड़ा) दे दिया जाता है और उनकी सिलाई की ज़िम्मेदारी उन्हीं के ऊपर छोड़ दी गई है। कुछ संस्थानों में तो वर्दी का नियम ही ख़त्म हो गया है...। निजी टेलरिंग एजेंसियों को ठेके दिए जा रहे हैं...। को-ऑपरेटिव सोसायटी अपना मतलब खोती जा रही है, उसकी जगह सिमट गई है। अब वह अपनी असली ज़िम्मेदारी से दूर होती जा रही है। हमारे पास अब ज़्यादा काम नहीं है। यहाँ काम करने वाली औरतों को 'कामगार' की तरह नहीं देखा जाता था बल्कि उन्हें वक़्ती तौर पर सरकार की दया पर पलने वाली औरत की तरह देखा जाता था। अब हमें सिर्फ़ प्राइवेट ऑर्डर (इकाई दर पर) मिलते हैं। इस बात का भी कोई भरोसा नहीं रहता कि ऑर्डर कब मिलेंगे और कब तक मिलते रहेंगे। काम इतना कम है कि उससे गुज़ारे के लिए भी आमदनी नहीं हो सकती।[34]

यानी, को-ऑपरेटिव सोसायटी में काम करने वाली महिलाओं को 'शरणार्थी' या दया और दान पर आश्रित बेसहारा औरत के रूप में देखा जाता था। इन औरतों को ऐसी कामगार नहीं माना जाता था जिन्होंने अपने घर-बार को दोबारा बनाया-बसाया और सरकार के लिए उत्पादन में हिस्सा दिया है। राज्य ने इस काम से हाथ खींच लेने का रास्ता अपने लिए हमेशा खुला रखा है। इज़्ज़त के साथ ज़िंदगी जीने की चाह रखने वाली इन औरतों के प्रति अपनी "राष्ट्रीय" ज़िम्मेदारी को छोड़ देने का विकल्प उसके पास हमेशा मौजूद रहा है।

विभाजन के बाद बेसहारा औरतों को रोज़गार मुहैया कराने के लिए सरकारी हस्तक्षेप के अलावा बहुत सारे सामाजिक और स्वैच्छिक संगठनों ने भी अपने-अपने पैमाने पर काम किया। 'सर्वेंट्स ऑफ़ द पीपुल सोसायटी', लाजपत भवन, लाजपत नगर की देख-रेख में रिखी देवी रामदास सूरी नारीशाला (मसाला केंद्र) के नाम से ऐसी ही एक संस्था शुरू की गई थी। "मसाला केंद्र" का जन्म पचास के दशक के आख़िर में इसके अध्यक्ष श्री सेवक राम की कोशिशों से हुआ था। श्री सेवक राम एक तरफ़ तो जनता को शुद्ध, बिना मिलावट और हाथ के पिसे मसाले मुहैया कराना चाहते थे और दूसरी तरफ़ वह बेसहारा, ज़रूरतमंद औरतों को रोज़गार देना चाहते थे।

10,000 रुपए के चंदे और कुल एक लेडी कामगार के साथ शुरू हुए इस केंद्र ने समय के साथ न केवल काफ़ी ताक़त हासिल कर ली थी बल्कि अपने दोनों उद्देश्यों को बख़ूबी पूरा किया। तब से इस केंद्र में काम करने वाली महिलाओं की संख्या सालाना औसतन 18 से 20 रही है। ये महिलाएँ मसालों की पिसाई और पैकिंग करती हैं। इसके अलावा मसाला केंद्र में एक लेडी सुपरवाइज़र, दो लेडी सेल्स असिस्टेंट, एक अकाउंटेंट और एक चपरासी की भी व्यवस्था रहती है।

इस केंद्र में काम करने वाली महिलाएँ मसाले तैयार करती हैं। वह कच्चे माल को सुखाने से लेकर उसकी साफ़-सफ़ाई, पिसाई, पैकिंग तक सारे काम खुद करती हैं। तरह-तरह के 'मसालों' के अलावा वह चने की दाल से बेसन, अंकुरित गेहूँ से दलिया, पापड़, बड़ी, चने, मूँगफली के दाने और मूँग का आटा भी तैयार करती हैं।

इस नारीशाला की मौजूदा सुपरवाइज़र श्रीमती कपूर खुद लाजपत नगर में रहने वाली एक पंजाबी 'रिफ़्यूजी' हैं। वह बताती हैंः

> मैंने इस मसाला सेंटर को बिल्कुल बचपन से देखा है। मेरी माँ यहाँ अकाउंटेंट हुआ करती थीं। मैं उनके साथ यहाँ आती रहती थी। यहाँ काम करने वाली औरतों (जिनमें से ज़्यादातर शरणार्थी थीं) की हर ज़रूरत का पूरा ख़याल रखा जाता था। यहाँ न केवल उन्हें सामाजिक सुरक्षा और पर्याप्त लाभ मिलते थे बल्कि उत्पादन उत्प्रेरक, वर्दी आदि सुविधाएँ भी दी जाती थीं। पहले लाजपत नगर, गढ़ी कृष्णा मार्केट, दयानंद कॉलनी जैसे आसपास के इलाक़ों की बहुत सारी पंजाबी औरतें इस सेंटर से लाभ उठाती थीं...। अब उनमें से ज़्यादातर बूढ़ी हो चुकी हैं। कुछ का देहांत हो चुका है। चक्की पर मसाला पीसना बड़ा श्रमसाध्य काम है, इसलिए बूढ़ी औरतें आसानी से इस काम को नहीं कर सकतीं मगर बसंत कौर जैसी कुछ औरतें अभी भी इस केंद्र में पैकिंग करती हैं। अब हम गढ़वाल, राजस्थान और बिहार की ज़रूरतमंद औरतों को भी काम पर रखने लगे हैं। पर इसमें कोई शक नहीं कि इस केंद्र ने बहुत सारी पंजाबी औरतों को ज़िंदा रहने के लिए ज़रूरी ज़रिया मुहैया कराया है।[35]

लाजपत नगर में रहने वाली ब्रज रानी बताती हैंः

> मैं इस सेंटर से 1962 में जुड़ी थी। सेवकराम जी बड़े दयालु आदमी थे। मसाला सेंटर में आने से पहले मैं मिठाई बेचती थी और सेवकराम जी के ही घर में नौकरी करती थी। वही मुझे इस सेंटर में लाए थे। मैं मुँह अंधेरे अपने घर के काम निपटाती थी और दिन भर चक्की पर काम करने के बाद घर जाकर फिर काम करती थी। हालाँकि काम बहुत मेहनत का था पर यहाँ मुझे अपने घर जैसा ही अपनापन महसूस होता था। यहाँ हम सारी औरतें मिलकर काम करती थीं, हम सबकी पृष्ठभूमि एक सी थी। कोई मिर्च पीसती थी, कोई हल्दी बनाती थी। कई बार दो औरतें मिलकर चक्की चलाने लगती थीं। काम के बदले मुझे पूरा पैसा मिलता था जिसके सहारे मैंने अपना परिवार चला लिया। उसी तनख़्वाह से मैंने लाजपत नगर में अपना छोटा सा मकान भी ख़रीद लिया। अब मैं अस्सी पार कर चुकी हूँ, मुझमें रोज़ इस सेंटर तक आने की ताक़त अब नहीं बची है। फिर भी मुझे आमदनी का ज़रिया ख़त्म हो जाने का अहसास तो रहता ही है। मैंने कभी किसी की दया नहीं ली। लेकिन अब मुझे पैसे के लिए अपने बेटों के सामने हाथ फैलाना पड़ता है। मैंने तो जो कुछ भी कमाया था, उसे यह घर ख़रीदने और बच्चों की पढ़ाई-लिखाई पर सर्फ़ कर दिया। अब मेरे पास कुछ नहीं बचा। आज भी मैं कूंडा डंडा लेकर घर पर मसाला कूटती हूँ और घर में ही बड़ियाँ बनाकर उन्हें अपने पड़ोसियों, दोस्तों और रिश्तेदारों को देती हूँ।[36]

इन दोनों संस्मरणों में निहित नितांत व्यक्तिगत ब्योरों के आधार पर यही पता चलता है कि बँटवारे के बाद औरतों ने अपनी ज़िंदगी को नए सिरे से ढर्रे पर लाने के लिए किस-किस तरह के रास्ते अपनाए थे। ऐसी सभी औरतों को सरकारी तथा सामाजिक एवं स्वैच्छिक संगठनों की मदद नहीं मिली थी। उदाहरण के लिए, दुर्गा देवी बाड़ा हिंदू राव में ज्ञानचंद नाम के एक व्यवसायी के पास काम करके अपना परिवार चलाती थीं। साक्षात्कार के दौरान उन्होंने बतायाः

> बँटवारे के बाद मैं अपनी शादीशुदा बहन और उसके परिवार के साथ कोठी मेम में रहा करती थी। जिस गली में हमारा घर था, उसी गली में ज्ञानचंद अपने घर में एक छोटा सा कारख़ाना चलाया करते थे। 'टायर मार्केट' के पास स्थित उनके कारख़ाने में बोरों और छोटे-छोटे थैलों

> पर स्क्रीन प्रिंटिंग का काम होता था। ज्ञानचंद सदर के थोक बाज़ार से काम लाते थे। मैं और कुछ दूसरी औरतें बोरों पर छपाई के लिए रंग तैयार करती थीं। हम सौ-सौ बोरों के बंडल बनाती थीं, उनमें गाँठ लगाती थीं और उनकी सिलाई करती थीं। ज्ञानचंद से मुझे जो पैसा मिलता था उसी से मैंने अपने दोनों बेटों को पढ़ाया-लिखाया और अपनी बेटी के हाथ पीले किए। शुरुआत में मैं अपनी बहन के घर ख़र्च में भी मदद देती थी। बाद में जब मेरे बेटे बड़े हो गए तो बेरी वाले बाग़ में मैंने अपना मकान ख़रीद लिया। सत्तर के दशक में जब ज्ञानचंद ने अच्छा पैसा बना लिया तो उन्होंने अपना कारख़ाना वज़ीरपुर औद्योगिक इलाक़े में एक बड़ी जगह पर खोल दिया। तब तक उनके बच्चे भी बड़े हो चुके थे, परिवार फैल चुका था और काम बढ़ चुका था। बाद में उनका पूरा परिवार ही बाड़ा हिंदू राव से निकल कर न्यू रोहतक रोड पर नए मकान में चला गया। वज़ीरपुर में नया कारख़ाना खुलने के बाद ज़्यादा निपुणता वाला काम होने लगा और प्रशिक्षित मज़दूर रखे जाने लगे। पहले जो औरतें काम करती थीं, अब उनकी वहाँ कोई ज़रूरत नहीं थी। वैसे भी वज़ीरपुर मेरे घर से बहुत दूर पड़ता था। कारख़ाना शिफ़्ट होने के बाद मैं ज़्यादातर घर पर ही रहने लगी। बाद में मेरे एक बेटे को इसी कारख़ाने में काम मिल गया और वहाँ से तजुर्बा हासिल करके बाद में उसने डाई बनाने का अपना धंधा शुरू कर दिया।[37]

इसी तरह कैलाश रानी ने कालकाजी मंदिर में भक्तों को मालाएँ और पूजा की चीज़ें बेच-बेच कर अपनी ज़िंदगी चलाई। कैलाश रानी की कहानी इस प्रकार हैः

> हम झेलम से दिल्ली आए थे। हमारे पास कोई माल-असबाब नहीं था। हमें इसका कोई इल्म नहीं था कि अब ज़िंदगी कैसे कटेगी। वहाँ तो मैंने कोई काम भी नहीं सीखा था इसलिए यहाँ मैं किसी नौकरी के लायक़ नहीं थी। मेरे तीन बच्चे थे और चौथा पेट में था। मेरे पति ने कालकाजी में एक छोटी सी दुकान खोल ली थी मगर उससे भी हमें कुछ हाथ नहीं लग पाता था...। सदा यही लगता रहता था कि हमारी कोई कोशिश क़ामयाब नहीं हो सकती..। मैं बिल्कुल टूट चुकी थी। तब मैं अकसर कालकाजी मंदिर जाती रहती थी। वहीं एक बार हमें अपने एक पुराने परिचित टकरा गए जो अब चिराग़ दिल्ली में रहते थे। वह कालका मंदिर के पंडितों और अधिकारियों को जानते थे। उनके ज़ोर देने पर मैं गेंदे, मोगरा और गुलाब के फूलों की मालाएँ बनाकर मंदिर के बाहर बेचने लगी। बाद में मैं रेहड़ी पर मालाएँ, माँ का सिंगार (चूड़ियाँ, सिंदूर आदि), माँ की तस्वीरें, चुन्नी वग़ैरह भी बेचने लगी। ज़िंदगी बहुत कठिन थी...। मैं सवेरे साढ़े तीन बजे उठकर सीधे मंदिर जाती थी। बहुत सारे भक्त माँ के दर्शन के लिए मुँह अंधेरे ही मंदिर पहुँच जाते थे। मैं उन्हीं को अपनी चीज़ें बेचती थी। सुबह की आरती के बाद मैं दोबारा मंदिर का फेरा लगाती थी। ज़िंदगी इसी तरह चलती रही...। 1965 के बाद मैंने वहाँ जाना बंद कर दिया क्योंकि तब तक मेरे आदमी की दुकान भी अच्छी चलने लगी थी और अब मेरा बेटा भी बड़ा हो गया था जो अपने पिता के साथ दुकान पर जाने लगा था। बाद में दोनों ने मिलकर वेल्डिंग का धंधा शुरू कर दिया। पर मैं अब भी उन स्याह दिनों को नहीं भुला पाती जब हर रोज मेरी उंगलियाँ सुन्न पड़ जाया करती थीं। मैं दिन भर मालाएँ जो पिरोती रहती थी। पर मेरे पास कोई चारा भी नहीं था...। आख़िर ज़िंदा भी तो रहना था...।[38]

बहुत सारी औरतें थीं जो औरों के घर में काम करती थीं, आसपास के कारख़ानों में पैकेजिंग का काम करती थीं, दुकानों या मिलों में काम करती थीं, अख़बार बेचती थीं, स्कूलों में पढ़ाती थीं और एक साथ दो-दो तीन-तीन काम करती थीं। आजकल ग्रीन पार्क में रहने वाली मैना ने भी अपने परिवार के लिए दिन रात कठोर परिश्रम किया है। वह बताती हैंः

> लाहौर में हमारे पास किसी चीज़ की कमी नहीं थी। लेकिन जब बँटवारा हुआ तो हमारे पास कुछ भी हाथ में उठाने का समय नहीं था। सब लोग डरे हुए थे कि अगर हमारे पास कुछ भी हुआ तो लोग लूट लेंगे। हम कुछ भी साथ लेकर नहीं चल सकते थे इसलिए मैंने अपना सारा सोना और नक़दी अपने घर के पिछवाड़े ज़मीन में गाड़ दिया। मुझे उम्मीद थी कि जब दंगे थम जाएँगे तो हम वापस जाकर अपना गड़ा हुआ ख़ज़ाना ले आएँगे। पर ऐसा वक़्त और मौक़ा तो कभी आया ही नहीं। दिल्ली तक के अपने पूरे सफ़र में हम खुले राहत शिविरों में ठहरते रहे। यहाँ आकर छज्जूराम जी (एक पुराने परिचित) की मदद से हम उनके घर में किराए पर रहने लगे। मेरे पाँच बच्चे थे — दो बेटियाँ और तीन बेटे। इस हादसे से मेरे पति को गहरा सदमा पहुँचा और वह शराब की लत में पड़ गए। बाद में वे झक्की भी हो गये। बच्चों को पालने की सारी ज़िम्मेदारी मेरे ऊपर ही आ गई। मैं छज्जूराम जी और कुछ दूसरे पड़ोसियों के घर में नौकरानी का काम करती थी। सुबह को मैं घर-घर जाकर कपड़े और बर्तन धोती थी। दोपहर बाद मैं स्कूल के बाहर बच्चों को मिठाइयाँ बेचने के लिए फेरी पर निकल जाती थी। शाम को मैं कुछ और घरों में काम करने जाती थी। मुझे सोने के लिए मुश्किल से पाँच घंटे मिल पाते थे। पर मैंने उम्मीद नहीं छोड़ी थी। अब मेरी एक बेटी सफ़दरजंग अस्पताल में डॉक्टर है। मेरे तीनों बेटे पढ़-लिख गए हैं और अच्छा कमा-खा रहे हैं। मेरे पति की 1987 में ही मौत हो चुकी थी पर वह तो मानो पहले ही हमारा साथ छोड़ चुके थे...। मैंने अपने परिवार को पूरी आर्थिक, नैतिक, जज़्बाती ताक़त दी और नब्बे के दशक में संन्यास ले लिया। कुछ समय के लिए तो मैं हरिद्वार में ही जाकर बस गई थी। अब मैं अपनी बची-खुची ज़िंदगी में बस शांति चाहती हूँ...। मैं अपनी ज़िंदगी में बहुत संघर्ष कर चुकी, अब तो बस मैं भगवान के बुलावे का इंतज़ार कर रही हूँ।[39]

हालाँकि मैना ने ज़िंदा रहने के लिए कई रास्ते निकाले और आख़िरकार वह कामयाब भी रहीं मगर दिल्ली आज भी उनके लिए एक पराई जगह है। यहाँ के लोगों को अभी भी वह 'हिंदुस्तानी' ही कहती हैं। उनके लिए घर का मतलब आज भी लाहौर ही है और वह एक बार वहाँ जाना चाहती हैं ताकि पिछवाड़े में वह अपनी जो यादें गाड़ कर चली थीं उन्हें दोबारा अपने सीने से लगा सकें।

लेकिन, हालाँकि मैना जैसी औरतें श्रमसाध्य काम करने के लिए अपनी शारीरिक सीमाओं के दायरे से भी बाहर चली गईं मगर बहुत सारी ऐसी भी थीं जो कल तक सामाजिक रूप से बाहैसियत परिवारों का हिस्सा थीं और अब नए हालात में उन्हें काम पर जाते हुए शर्म महसूस होती थी। बहुत सारी औरतें ज़िंदगी की बंदिशों, बच्चों की ज़िम्मेदारियों की वजह से भी काम के लिए घर की चौखट से बाहर पैर नहीं रख पाईं। भले ही उन्होंने घर से बाहर क़दम नहीं रखा मगर उनमें से कुछ ऐसी ज़रूर थीं जिन्होंने अपने 'स्त्रीधन' के ज़रिए अपने परिवारों की अप्रत्यक्ष रूप से मदद की। लाहौर के मशहूर और संपन्न डॉक्टर श्री रामकृष्ण की पत्नी शांति देवी ने यही रास्ता अपनाया। शांति देवी तो अब हमारे बीच नहीं हैं मगर बँटवारे के वक़्त दस साल के रहे उनके बेटे राजेंद्र मोहन को अब भी वो दिन याद हैं:

> हम लाहौर से दिल्ली आए थे — अपनी तक़रीबन हर चीज़ गँवा कर। हमारे पास कोई आसरा नहीं था। हम सात बच्चे, हमारे माँ-बाप, मेरी विधवा मौसी और उनका बेटा — हम सब पूरी तरह बेसहारा हो चुके थे। पिताजी (डॉ. रामकृष्ण) की समाज में अच्छी उठ-बैठ थी। उनके बहुत सारे रोगी व जान-पहचान वाले भी मुसलमान थे। बल्कि जब हम वहाँ से भागे तो रात को उनके एक मुसलमान दोस्त ने ही आकर बताया था कि कुछ लोग उनके क़त्ल की साज़िश रच रहे हैं। नतीजतन हमें रातोंरात भागना पड़ा। इस हड़बड़ी में हम कुछ साथ नहीं ला सकते थे। फिर भी मेरी माँ ने जैसे-तैसे अपने गहने साथ ले लिए। हम जब यहाँ पहुँचे तो हमारे पास अपना कहने को कोई ठिकाना न था। रिफ़्यूजी कैंपों में ज़िंदगी बहुत ख़तरनाक थी। हम लड़कियों और

> औरतों के अपहरण की कहानियाँ आए दिन सुनते रहते थे। तब किसी की मदद से मेरे पिताजी ने सब्ज़ी मंडी में एक छोटी-सी जगह का इंतज़ाम कर लिया। इस कुल जमा एक कमरे और बरामदे में हम 11 जने साथ रहते थे! घर के बग़ल से बदबूदार नालियाँ बहती थीं। मेरी माँ चूल्हे और अंगीठी में खाना बनाती थी। मेरे पिता दोबारा अपनी प्रैक्टिस नहीं जमा पा रहे थे। न तो यहाँ उन्हें कोई जानता था और न उनके पास दुकान खोलने के लिए कोई ठिकाना था। उस वक़्त मेरी माँ ने अपने गहने बेचने की पेशकश की जिससे पिताजी किराए पर जगह लेकर अपनी प्रैक्टिस दोबारा शुरू कर सकें। उन्होंने गहनें बेचकर डीसीएम चौक में एक छोटी सी दुकान किराए पर ले ली और बाद में उसे ख़रीद भी लिया। सब्ज़ी मंडी में रहने के बाद हमने बाड़ा हिंदूराव में मकान लिया जो मुआवज़े के तौर हमें किराए पर मिला था। 1955 में उन्होनें 5,000 रुपए में यह मकान भी ख़रीद लिया। तब तक उनकी प्रैक्टिस ठीक-ठाक चलने लगी थी। लेकिन अगर मेरी माँ के पास गहने न होते तो भगवान ही जानता है हमारा क्या होता?[40]

जहाँ एक तरफ़ शांति देवी ने अप्रत्यक्ष रूप से अपने परिवार को सहायता (आर्थिक) दी वहीं दूसरी तरफ़ बहुत सारी ऐसी महिलाएँ भी थीं जिन्होंने ख़ुद आगे बढ़कर परिवार चलाने और बाद में अपने परिवार के लोगों को काम धंधे में उतारने की ज़िम्मेदारी उठाई। बीबी रामप्यारी की कहानी कुछ इसी तरह की है। उनके लंबे अनुभवों को मैं जरा विस्तार से उद्धत करना चाहती हूँः

> मानो 'बँटवारा' ही काफ़ी नहीं था, मेरी मुश्किलें तब और बढ़ गईं जब पता चलता कि मेरे पति को टीबी है। मेरे चार बच्चे थे और मैं काम करने की सूरत में नहीं थी। मेरा भाई पटेल नगर में था पर उसकी भी अपनी मुश्किलें थीं। इसके बावजूद उसने हमारी मदद की और कुछ समय तक मेरे पति के इलाज का ख़र्चा भी उठाया। बाद में मैंने अपने गहने बेच दिए और भाई से कुछ मदद लेकर राजेंद्र नगर में एक घर ख़रीद लिया। हम नए मकान में तो आ गए मगर हमारे पास आमदनी का कोई पक्का ज़रिया नहीं था। मैं बाहर नहीं जा सकती थी क्योंकि मेरे बच्चों का ख़याल रखने वाला कोई नहीं था। आख़िरकार सोहन पाजी (भाई) भी हमारे लिए कितना कर सकते थे? इसलिए गली में खुलने वाले सामने के कमरे में मैंने एक खोखा 'टक' डाल दिया। हालाँकि मुल्तान में मेरे पिताजी कपड़े के थोक दुकानदार थे पर मुझे तो इस कारोबार का कोई तजुर्बा ही नहीं था। मैं तो विरले ही कभी उनके दुकान पर जाती थी। मुझे उनके कारोबार में कोई दिलचस्पी भी नहीं थी। अपने खोखे में बैठकर सबसे पहले मैं मीठी गोलियाँ और फूल व मछली जैसी बनावट वाली रंग-बिरंगी टॉफ़ियाँ वग़ैरह बेचने लगी। बच्चे बड़े चाव से उन्हें खाते थे। मैं दुकान पर ही अपने बच्चों को खिलाती-पिलाती रहती थी। वहीं बैठ कर मैं उन्हें पढ़ाती (या उनकी पढ़ाई पर नज़र रखती) रहती थी। उनके कपड़ों की सिलाई-कताई भी इसी खोखे में होती थी। मेरा भाई दुकान के लिए थोक बाज़ार से सामान ले आता था। मुझे जो मुनाफ़ा होता था वह बहुत कम था। इधर मेरे पति की हालत भी बिगड़ती गई और लंबी बीमारी के बाद आख़िरकार 1956 में उन्होंने दम तोड़ दिया। उनके जाने के बाद मुश्किल और भी बढ़ गई क्योंकि मर्दों के समाज में घर में किसी मर्द के न होने से दुकान चलाना और भी मुश्किल काम था। मेरा बेटा कुल बारह साल का था और कभी-कभी मेरी बेटी और लड़का ही मेरी जगह दुकान पर बैठते थे। मगर मैं सदा यही ज़ोर देती रही कि वह अपनी पढ़ाई पर ध्यान दें...। बाद में मैंने दुकान थोड़ी और बढ़ा ली और लैला की उंगलियाँ, बेसन के बने स्नैक्स, बबल गम, बिस्कुट, चूरन वग़ैरह भी बेचने लगी। मुझे याद है 10 पैसे में इतनी सारी डंडी वाली चूरन और टॉफियाँ आ जाती थीं...। संघर्ष करते-करते मैंने अपनी दुकान को जमाया क्योंकि यही मेरी आमदनी का एकमात्र ज़रिया थी...। अब 'हमारे ज़माने' की ऐसी चीज़ों की कोई क़द्र नहीं है। उनकी जगह अब

> सुंदर-सुंदर पैकिंग वाली कैडबरी, एक्लेयर्स, चॉकलेट और टॉफ़ी आने लगी हैं। ऊपर से तरह-तरह के वेफ़र, आलू के चिप्स, हाजमोला, मैगी और न जाने क्या-क्या आ गया है। लोगों की माली हालत में भी इज़ाफ़ा हुआ है। सेहत की फ़िक्र करने वाले माँ-बाप अब अपने बच्चों को बिना पैकिंग वाली टॉफी या चूरन नहीं खाने देते। बीबी दी दुकान के रूप में शुरू हुई वह छोटी सी दुकान अब एक बड़ा जनरल स्टोर बन चुकी है जिसे मेरे बेटे बहुत अच्छी तरह चला रहे हैं।[41]

एक ज़माने में जिस चीज़ को बीबी रामप्यारी ने महज़ ज़िंदा रहने के साधन के तौर पर शुरू किया था, आज वह राजेंद्र नगर का एक जाना-माना जनरल स्टोर बन चुकी है। दुकान के आसपास का पूरा इलाक़ा एक बाज़ार की शक्ल ले चुका है। इस दरमियान बीबी रामप्यारी का परिवार भी छोटे से दरबेनुमा मकान से निकलकर राजेंद्र नगर के एक बड़े मकान में चला गया है। अब उनकी दुकान में साबुन, वॉशिंग पाउडर से लेकर स्टेशनरी, खाने-पीने की चीज़ें, सब कुछ मिल जाता है। मगर यह रामप्यारी ही थीं जिन्होंने इतनी हिम्मत से अपने इस उद्यम की शुरुआत की थी।

बीबी रामप्यारी को उनके जानने वाले सिर्फ़ बीबी कहते हैं। अब उनकी सेहत दिनोंदिन गिरती जा रही है और वह तक़रीबन बिस्तर से चिपक कर रह गई हैं। मगर पीछे मुड़कर देखने पर उन्हें बड़ा संतोष होता है और इस बात पर गर्व महसूस होता है कि उन्होंने कभी किसी के सामने हाथ नहीं फैलाया हालाँकि इसके लिए उन्हें मर्दों की दुनिया में ख़ूब जद्दोजहद करनी पड़ी। उनकी बेटी का ब्याह हो चुका है। वह अब तिलक नगर में रहती है। अब बीबी रामप्यारी अपनी पहचान को एक लंबे वक़्फ़े पर चस्पाँ कर सकती हैं, एक ऐसे दायरे पर जो हर मायने में उनका अपना है।

न केवल बीबी रामप्यारी जैसी औरतों ने अपने परिवारों को कारोबार की दुनिया की राह दिखाई बल्कि उन्होंने अपने मोहल्ले-पड़ोस और बस्तियों को वो चरित्र और ख़ासियत भी दी जिसकी वजह से आज इन जगहों को जाना जाता है। इस प्रकार एक ज़्यादा बड़े संदर्भ में हम देखते हैं कि ये बस्तियाँ किस तरह दिल्ली की ज़िंदगी की मुख्यधारा का हिस्सा बनती चली गई हैं।

मालवीय नगर भी दिल्ली की एक जानी-मानी 'रिफ़्यूजी' बस्ती है। यह दक्षिण दिल्ली का एक जाना-पहचाना बाज़ार है। इसी बाज़ार में सरदार नवजोत सिंह बिजली के सामान और मरम्मतसाज़ी की दुकान चलाते हैं। उनकी दुकान बाज़ार में खुलती है और बड़े मौक़े की जगह पर है। दुकान के पिछवाड़े ही उनका घर है जिसके आख़िरी कमरे ने एक 'बुटीक' की सी हैसियत हासिल कर ली है। यह बुटीक नवजोत सिंह की पत्नी रानोजी चलाती हैं जिन्होंने पचास के दशक में फुटकर पैमाने पर कपड़े सीने का काम शुरू किया था। अब वह 'आकर्षण' नाम के इस बुटीक की देखरेख करती हैं। बुटीक चलाने का असली ज़िम्मा उनकी बहू के हाथों में है। रानोजी संभवतः उन बूढ़े लोगों में आती हैं जो आज भले ही ज़िंदगी के आख़िरी पड़ाव पर पहुँच चुके हैं मगर जो आज भी घर में दिन भर घूमते रहते हैं और घर के दैनिक फ़ैसलों में अपना पूरा दख़ल रखते हैं। जब उनसे बातचीत हुई तो उनका बेटा, बहू और पोता/पोती भी उनके साथ बैठे थे। ज़ाहिर है उन सबको रानोजी पर गर्व महसूस होता है। रानोजी के लिए बँटवारे के बाद की ज़िंदगी कुछ इस तरह थीः

> जब हम मालवीय नगर के इस छोटे से मकान में आए तो हमने तिनकों से अपनी ज़िंदगी शुरू की थी। सरदारजी को बिजली की चीज़ें ठीक करने का हुनर आता था। वह रावलपिंडी में यह काम कर चुके थे। पर यहाँ हमारा काम नहीं जम पाया। हमारी आमदनी परिवार का पेट पालने के लिए हमेशा कम पड़ जाती थी। हमारे मोहल्ले की कुछ औरतों ने सिलाई क्लासिस में दाख़िला ले लिया था इसलिए उनकी देखा-देखी मैं भी सिलाई-कढ़ाई सीखने लगी। मगर इसके बाद भी मैं काम शुरू नहीं कर पाई क्योंकि मेरे बच्चे बहुत छोटे थे। मुझे अपने ससुरजी की भी देखभाल करनी पड़ती थी जो उस वक़्त बहुत बीमार थे। आख़िरकार 1953 से मैं औरतों के सलवार-कुर्ते और ब्लाउज़ सीने लगी। लगातार अभ्यास से मेरा काम सुधरने लगा और मुझे अच्छा काम मिलने लगा। मैंने दो-तीन औरतों को भी अपने पास काम पर रख लिया। मेरे पास

> अपनी मशीन के अलावा कोई मशीन नहीं थी इसलिए ये औरतें अपनी मशीन लेकर आती थीं...। बाद में मैंने घर के पिछवाड़े को चारों तरफ़ से घेर कर उसको एक कमरा बना दिया (मालवीय नगर में यह चलन ख़ूब है)। मैंने इसी कमरे में सिलाई सेंटर खोल लिया और मेरे पास काम की कोई कमी नहीं रही। धीरे-धीरे सरदारजी का काम भी अच्छा चलने लगा मगर मैंने अपना काम नहीं छोड़ा...। लेकिन अब दिखदा नईं है...। अब मेरी बहू औरतों की सलवार-कमीज़ का बुटीक चला रही है। उसे ये काम अच्छा लगता है। मैं तो बस कभी-कभी काम पर नज़र डाल लेती हूँ। अब सरदारजी और बेटा बाहर दुकान पर बैठते हैं।[42]

रानोजी की तरह मालवीय नगर के बहुत सारे लोगों ने अपने घर में ही छोटी-मोटी दुकानों से शुरुआत की थी और इन्हीं दुकानों ने आख़िरकार एक भरे-पूरे बाज़ार की शक्ल ले ली। कुछ ऐसा ही रुझान दिल्ली भर में फैले 'रिफ़्यूजी' मोहल्लों में दिखाई देता है जहाँ मकानों, दुकानों और कारख़ानों ने बढ़ते-बढ़ते नई बस्तियों को जन्म दे दिया। *दिल्ली : ए कैपिटल सिटी* नामक अपनी किताब में अशोक मित्रा ने बताया है कि इस तरह के प्रतिष्ठानों के चार मुख्य केंद्र थे। दक्षिण में मालवीय नगर, पश्चिम में राजेंद्र नगर, पटेल नगर, मोती नगर एवं तिलक नगर; और पूर्वी दिल्ली में शाहदरा स्थित गांधी नगर जबकि "चाँदनी चौक, बाड़ा हिंदूराव, सब्ज़ी मंडी, सदर बाज़ार, सराय रोहिल्ला, झंडेवालान, पहाड़गंज और ओल्ड रोहतक रोड स्थित शकूरबस्ती जैसे पुराने शहर के भीतरी इलाक़े लोगों से अँट गए थे।"[43] इस तरह दिल्ली में नई शरणार्थी बस्तियों का दायरा दक्षिण में कैलाश और कुतुब के पार, दक्षिण-पूर्व में फ़रीदाबाद तक, दक्षिण-पश्चिमी में गुड़गाँव तक और पश्चिम में नजफ़गढ़ के पार तक फैला हुआ था। पूर्वी छोर पर शाहदरा और ग़ाज़ियाबाद इसी चहल-पहल की वजह से तक़रीबन एक दूसरे में खो से गए। दिल्ली नगर निगम, नई दिल्ली और दिल्ली केंटोनमेंट नाम के शहरी इलाक़े तेज़ी से फैलते गए।[44]

दिल्ली में आए बदलावों के बारे में लिखते हुए वी.एन. दत्ता ने पश्चिमी दिल्ली का उदाहरण दिया है। उनका कहना है कि सदर, पहाड़गंज, करोलबाग़, पटेल नगर, सिविल लाइंस और सब्ज़ी मंडी शरणार्थियों के मुख्य पुनर्वास इलाक़े बन गए थे। दत्ता लिखते हैं कि इन बस्तियों ने भावी विस्तार के लिए "स्वतंत्र केंद्रकों" का किरदार अदा किया है। ये बस्तियाँ "टापुओं" की तरह हैं — आत्मनिर्भर होते हुए भी दिल्ली की मुख्यधारा की ज़िंदगी का एक अभिन्न अंग। इन सारी बस्तियों में अपने-अपने बाज़ार हैं, शॉपिंग सेंटर हैं। इन सभी में एक मंदिर, एक बैंक, थाना, एक स्कूल, डाकख़ाना और टेलीग्राफ़ ऑफ़िस, टैक्सी स्टैंड और सिनेमा घर मौजूद हैं। कुछ बस्तियों में तो स्विमिंग पूल और बस के डिपो भी हैं। इन बस्तियों के मकान आमतौर पर बहुमंज़िला या लंबे-चौड़े नहीं हैं। मुख्य सड़क के आसपास बड़े मकान दिखाई देते हैं मगर बस्ती के भीतर एक-मंज़िला घरों की भरमार है। ज़्यादा भीतर जाने पर अल्पआय तबक़े के और भी छोटे मकान दिखाई देते हैं। लोगों की दैनिक ज़रूरतें अपनी बस्ती के स्थानीय बाज़ार में ही पूरी हो जाती हैं। ये बाज़ार इन बस्तियों के केंद्र बन चुके हैं। ईस्ट पटेल नगर में लोगों के पास टेलीविज़न सेट भी हैं और कुछेक के पास कारें भी आ गई हैं। इन बस्तियों के लोगों ने अपनी पुरानी वाली ज़िंदगी को नए सिरे से रचने, जीने की भरपूर कोशिश की है। जैसे-जैसे ये बस्तियाँ फैलती गई हैं, उनके खाते-पीते बाशिंदे गोल्फ़ लिंक्स, वसंत विहार, ग्रेटर कैलाश, रिंग रोड, न्यू फ़्रेंड्स कॉलनी और डिफ़ेंस कॉलनी जैसी पॉश बस्तियों की तरफ़ रुख़ करने लगते हैं।[45]

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजेंद्र नगर, पटेल नगर, मल्कागंज, किंग्ज़वे कैंप, विजय नगर, निज़ामुद्दीन, जंगपुरा, पुराना क़िला, लाजपत नगर, कालकाजी, भारत नगर, तिलक नगर, आज़ादपुर, रोशनारा बाग़, राजौरी गार्डन और बहुत सारी दूसरी आबादियाँ 'शरणार्थी' बस्तियों से ही शुरू हुई थीं। यहाँ हमें इन इलाक़ों को उनकी मौजूदा हैसियत और शख़्सियत तक पहुँचाने में असंख्य औरतों द्वारा दिए गए अप्रतिम योगदान को भी पूरी संजीदगी के साथ रेखांकित करना चाहिए। मिसाल के तौर पर, कालकाजी के बहुत सारे घरों में आज भी 'वरांडे' से ही दुकानें चल रही हैं। ये वही दुकानें हैं जिन्हें कभी बँटवारे के बाद दर-दर की ठोकरें खाते यहाँ पहुँची औरतों ने अपनी ज़िंदगी को नए सिरे से खड़ा करने के लिए शुरू किया था। दिल्ली की ज़िंदगी में इन औरतों के योगदान को मान्यता प्रदान करके ही संघर्ष से भरे उनकी ज़िंदगी के कैनवस के बीचोंबीच 'अपने पर फैलाने' की उनकी चाह को समझा जा सकता है।

मगर 'दूसरी तरफ़' को देखने की चाह से मजबूर कुछ महिलाएँ दिल्ली में आर्थिक रूप से स्थापित हो जाने के बावजूद एक गहरे 'विछोह', परायेपन, अपनी ज़मीन से उजड़ जाने, अपने लोगों से छूट जाने... के अहसास से बाहर नहीं निकल पाई हैं।

भोगल में रहने वाली दर्शना रानी की उम्र अब नवीं दहाई में पहुँच चुकी है। इसके बावजूद उन्हें आज भी अपना व्यक्तित्व अस्थिर, जड़ों से कटा हुआ और विच्छिन्न सा दिखाई देता है। वह पहले रावलपिंडी और बाद में लाहौर के राम नगर में बिताए अपने दिनों को भरे दिल से याद करती हैं। उन्हें आज भी लगता है कि विभाजन में उनकी स्वतंत्रता कहीं खो गई, उनकी वह आज़ादी उनके पास नहीं रही जो रावलपिंडी या लाहौर में उन्हें महसूस होती थी। उन्हें याद आता है:

> हिंदुस्तान तो आ गए मगर वतन तो उत्थे ही था...। बँटवारा क्यों हुआ। मैं नहीं जाणती — हम तो मुसलमानों के साथ बड़े मिल-जुल कर रहते थे। हाँ, हम उनके साथ बैठकर खाना नहीं खाते थे पर उस जगह की कुछ और ही बात होती है जहाँ तुम्हारा बचपन बीता हो। वो ज़मीन जो तुम्हारी थी, वो मिट्टी जो तुम्हारे पुरखों से वाबस्ता थी, जिसकी सुगंध मुझे आज भी याद आती है। मुझे याद है रावलपिंडी के अपने बड़े से घर के दालान में मैं गिट्टे और स्टापू खेला करती थी। हमारे घर में 6 कमरे थे! मैं क्या बताऊँ मेरा कितना दिल करता है एक बार जाकर उस जगह को फिर देखने का? अब भी दिल करता है ये जानने का कि मेरे घर में अब कौन रहता है? क्या अब भी सब कुछ वैसा ही है जैसा तब था? मैं वहाँ जाना चाहती हूँ और फूट-फूट कर रोना चाहती हूँ...। अपनी सहेली शबाना बीबी और फ़ातिमा बानो से मिलने की मेरी बड़ी गहरी तमन्ना है। पता नहीं अब वो ज़िंदा भी होंगी या नहीं? यहाँ तो हमारी अपनी कोई जगह नहीं, अपनेपन का हमें अहसास ही नहीं होता। मैंने अपनी आधी ज़िंदगी 'रिफ़्यूजी' का पट्टा माथे पर लगाए गुज़ार दी — क्या मतलब होता है इसका? मैं भोगल में रहती हूँ, छोटे से मकान में — वहाँ तो मेरा ख़ूब बड़ा मकान था। यह सब क्यों हो गया? मैंने इस मकान के लिए क़ीमत दी है, इसे ख़रीदा है, मगर अब भी लगता नहीं कि हम कहीं बस गए हैं — सब कुछ लुट गया वहीं पे। किस लिए? हमारी क्या ग़लती थी?[46]

जब आज़ादी आई तो उसने दर्शना रानी जैसी औरतों की ज़िंदगी पर एक बिल्कुल मुख़्तलिफ़ क़िस्म का असर डाला। ये औरतें बमुश्किल ही कभी आज़ादी की बात कर पाती हैं। वजह साफ़ है — उनके लिए आज़ादी का मतलब ज़िंदगी को नए सिरे से ढर्रे पर लाने, ख़ुद को दोबारा दुनिया से जोड़ लेने, एक बार फिर पर फैलाने की चाह संजोने, स्वाभिमान और हैसियत हासिल करने और इसके बावजूद पचास साल बाद तक उजड़ा-उजड़ा महसूस करते रहने की विवशता से था।

अनुवादः योगेंद्र दत्त

संदर्भ

1. एम. जे. अकबर, *इंडियाः द सीज विदिन*, दिल्ली, 1985, पृ. 150.
2. अमिताभ घोष, *द शैडो लाइंस*, न्यूयॉर्क, वाइकिंग, 1988, पृ. 190.
3. ज्ञानेंद्र पांडे, *रिमेम्बरिंग पार्टीशनः वॉयलेंस, नैशनलिज़्म ऐण्ड हिस्ट्री इन इंडिया*, केम्ब्रिजः केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस 2001, पृ. 125.
4. जोन केली, *विमेन, हिस्ट्री ऐण्ड थ्यॉरी*, शिकागोः युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, 1984, पृ. 3.
5. ज्ञान पांडे, 'द प्रोज़ ऑफ़ अदरनेस', डेविड आर्नोल्ड एवं डेविड हार्डीमैन (स.) सबॉल्टर्न स्टडीज़ खंड VIII, दिल्लीः ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1994, पृ. 189 में. इसे भी देखें, ज्ञान पांडे, *मेमॅरी, हिस्ट्री ऐण्ड द क्वेश्चन ऑफ़ वॉयलेंसः रिफ़्लेक्शंस ऑन दि रीकंस्ट्रक्शन ऑफ़ पार्टीशन*, कलकत्ताः के.पी. बागची, 1989.
6. वही, पृष्ठ 204.
7. सबॉल्टर्न और जेंडर के नज़रिए से इतिहास के पुनर्लेखन की हालिया कोशिशों में शामिल हैं — उर्वशी बुटालिया, *दि अदर*

साइड ऑफ़ साइलेंस, दिल्लीः पेंग्विन, 1998, ज्ञानेंद्र पांडे, 'इन डिफ़ेंस ऑफ़ द फ्रैग्मेंटः राइटिंग अबाउट हिंदू-मुस्लिम रायट्स इन इंडिया टुडे', *इकनॉमिक ऐण्ड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड XXVIII, संख्या 36 सितंबर 6, 1997; ऋतु मेनन एवं कमला भसीन, *बॉर्डर्स ऐण्ड बाऊंड्रीज़,* दिल्लीः काली फ़ॉर विमेन, 2001; करुणा चानना, 'पार्टीशन ऐण्ड फ़ैमिली, स्ट्रैटेजीज़ः जेंडर, एजुकेशन लिंकेजेज़ अमंग पंजाबी विमेन, *इकनॉमिक ऐण्ड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड XXVIII, संख्या 17 अप्रैल 24, 1993, ज्ञानेंद्र पांडे, *रिमेम्बरिंग पार्टीशन*.

8. स्वतंत्रता आंदोलन और अन्य सामाजिक आंदोलनों पर नारीवादी लेखन के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं — राधा कुमार, *द हिस्ट्री ऑफ़ डूइंगः एन इलस्ट्रेटेड अकाउंट ऑफ़ मूवमेंट फ़ॉर विमेंस राइट ऐण्ड फ़ेमिनिज़्म इन इंडिया* दिल्लीः काली फ़ॉर विमेन, 1993; भारती रे (वही), *फ़्रॉम द सीम्स ऑफ़ हिस्ट्रीः एसेज़ ऑन इंडियन विमेन*, दिल्लीः ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1995; *स्त्री शक्ति संगठन, वी आर मेकिंग हिस्ट्रीः लाइफ़ स्टोरीज़ ऑफ़ विमेन इन तेलंगाना पीपुल्स स्ट्रगल,* दिल्लीः काली फ़ॉर विमेन, 1989; जेराल्डिन फ़ोर्ब्स, *विमेन इन मॉडर्न इंडिया,* केम्ब्रिजः केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, 1996, कमला विश्वेश्वरण, 'स्मॉल स्पीचेज़, सबॉल्टर्न जेंडरः नैशनलिस्ट आइडियॉलॉजी ऐण्ड इट्स हिस्टोरियॉग्रफ़ी', शाहिद अमीन एवं दीपेश चक्रबर्ती, वही, *सबॉल्टर्न स्टडीज़, खंड-VIII*, दिल्लीः ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1996.

9. राहत एवं पुनर्वास मंत्रालय की *ऐन्युअल रिपोर्ट ऑन इवैक्युएशन, रिलीफ़ ऐण्ड रिहैबिलिटेशन ऑफ़ रिफ़्यूजीज़* (1954-55), पृ 42, में दी गई संख्या 4,95,391 है. भारत की जनगणना, 1951 में भी यही संख्या — 4,953,91 — दी गई है.

10. ज्ञानेंद्र पांडे, *रिमेम्बरिंग पार्टीशन*, पृ. 122.

11. मुशीरुल हसन, *लेगेसी ऑफ़ ए डिवाइडेड नेशनः इंडियाज़ मुस्लिम्स सिन्स इंडिपेंडेंस,* लंदन, 1997, पृ. 173.

12. वी.एन. दत्ता, 'पंजाबी रिफ़्यूजीज़ ऐण्ड दि अर्बन डिवेलपमेंट ऑफ़ ग्रेटर डेल्ही', मुशीरुल हसन (सं.) *इन्वेन्टिंग बाउंड्रीज़ः जेंडर, पॉलिटिक्स ऐण्ड द पार्टीशन ऑफ़ इंडिया,* दिल्लीः ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 2000, पृ. 268 में.

13. दिल्ली के लिए, देखें थॉमस आर. मेटकाफ़, *इम्पीरियल विज़नः इंडियन आर्किटेक्चर ऐण्ड ब्रिटेन्स राज,* लंदनः फ़ेबर ऐण्ड फ़ेबर (1989); आर. ई. फ़्रिकेनबर्ग, *डेल्ही थ्रू दि एजेज़,* दिल्ली, 1989; एच. के. कौल, सं., *हिस्टॉरिक डेल्ही* दिल्ली, 1985; सुहाष चक्रवर्ती, *द राज सिंड्रोम, ए स्टडी इन इम्पीरियल परसेप्शंस* दिल्ली 1989.

14. अशोक मित्रा, *डेल्हीः कैपिटल सिटी,* दिल्ली, 1970, पृ. 4.

15. वी. एन. दत्ता, 'पंजाबी रिफ़्यूजीज़ ऐण्ड दि अर्बन डिवेलपमेंट ऑफ़ ग्रेटर डेल्ही', पृ. 268.

16. वही, पृ. 269.

17. सुनील खिलनानी, *दि आइडिया ऑफ इंडिया*, न्यूयॉर्कः फ़ार्रर स्ट्रॉस, 1998, पृ. 129 (हिंदी में *भारतनामा* के नाम से प्रकाशित, अनु. अभय कुमार दुबे).

18. अमृता प्रीतम, 'माई सिटी, वर्ल्ड सिटी', *टाइम्स ऑफ़ इंडिया*, 15 अगस्त, 1947.

19. ज्ञानेंद्र पांडे, *रिमेम्बरिंग पार्टीशन*, पृ. 125.

20. वही, पृ. 125.

21. ऋतु मेनन, 'रीप्रोड्यूसिंग लेजिटिमेट कम्युनिटी', पैट्रिशिया जेफ़्री एवं अमृता बासु (सं.), *अप्रोप्रिएटिंग जेंडर,* न्यूयॉर्कः रटलेज, 1998 में.

22. विमेंस सेक्शन द्वारा किए गए कार्यों से संबंधित रिपोर्ट, राहत एवं पुनर्वास मंत्रालय, 1949; *रामेश्वरी नेहरू पेपर्स,* संख्या 2, नेहरू मेमोरियल म्यूज़ियम ऐण्ड लाइब्रेरी, नई दिल्ली.

23. *रिपोर्ट ऑफ़ द विमेंस सेक्शन*, राहत एवं पुनर्वास मंत्रालय, 2 फ़रवरी — 30 मार्च 1949.

24. पुनर्वास एवं रोज़गार महानिदेशक द्वारा किए गए कार्यों की समीक्षा, मई 1949, भारत सरकार द्वारा जारी, राहत एवं रोज़गार महानिदेशक, श्रम मंत्रालय, म्युनिसिपल रिकॉर्ड्स, दिल्ली सरकार, दिल्ली विभाग अभिलेखागार.

25. *साड्डा हक़ एत्थे रख, ए रिपोर्ट ऑन रिफ़्यूजी विमेन वर्कर्स इन डेल्ही*, पीपुल्स यूनियन ऑफ़ डेमोक्रेटिक राइट्स (पीयूडीआर) द्वारा जारी, दिल्ली, 1989, पृ. 3.

26. वही.

27. भगवती बनौटा के साथ साक्षात्कार, कालकाजी, 2 अक्टूबर 2001, नई दिल्ली.

28. *रिपोर्ट ऑफ़ दि विमेंस सेक्शन*, राहत एवं पुनर्वास मंत्रालय, 2 फ़रवरी — 30 मार्च 1949.

29. साड्डा हक़ एत्थे रख, पृ. 3.

30. उपायुक्त की फ़ाइलें, फ़ाइल संख्या डीसी/340/1949, विषयः रिफ़्यूजी वीमेंस को-ऑपरेटिव सोसायटीज़ इन डेल्ही, 1949 म्युनिसिपल रिकॉर्ड्स, दिल्ली सरकार.

31. *साडा हक़ एत्थे रख*, पृ. 3.
32. वही, पृ. 3.
33. प्रेम मन्ना के साथ साक्षात्कार, पहाड़गंज, 9 जुलाई 2001, दिल्ली.
34. मंजीत कौर के साथ साक्षात्कार, जनपथ, 2 जुलाई 2001, दिल्ली.
35. श्रीमती कपूर के साथ साक्षात्कार, लाजपत भवन, 16 जुलाई 2002, नई दिल्ली.
36. ब्रजरानी के साथ साक्षात्कार, लाजपत नगर, 21 जुलाई 2002, नई दिल्ली.
37. दुर्गा देवी के साथ साक्षात्कार, बेरीवाला बाग़, 12 अप्रैल 2002, दिल्ली.
38. कैलाश रानी के साथ साक्षात्कार, कालकाजी, 26 मार्च, 2002, नई दिल्ली.
39. मैना के साथ साक्षात्कार, अर्जुन नगर, ग्रीन पार्क, 4 मई, 2002, नई दिल्ली.
40. राजेंद्र मोहन के साथ साक्षात्कार, मयूर विहार, 22 नवंबर, 2002, दिल्ली.
41. बीबी रामप्यारी के साथ साक्षात्कार, राजेंदर नगर, 28 दिसंबर, 2001, दिल्ली.
42. रानो के साथ साक्षात्कार, मालवीय नगर, 14 अक्टूबर, 2001, नई दिल्ली.
43. अशोक मित्रा, *दिल्ली: कैपिटल सिटी*, नई दिल्ली, 1970, पृ. 8.
44. वही, पृ. 9.
45. वी. एन. दत्ता, 'पंजाबी रिफ़्यूजीज़ ऐण्ड दि अर्बन डिवेलपमेंट ऑफ़ ग्रेटर डेल्ही' पृ. 275.
46. दर्शना रानी के साथ साक्षात्कार, भोगल, 4 अक्टूबर, 2001, दिल्ली.